भारतीय इतिहास के कुछ रेखाचित्र

भगवतशरण उपाध्याय

श्रद्धेय डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के करकमलों में—

वक्तव्य

प्रस्तुत संग्रह मेरे ऐतिहासिक निबंधों का है। ये लेख समय समय पर 'माधुरी' 'हिन्दुस्तानी', Journal of the Benares Hindu University और Journal of the U. P. Historical Society में छपे हैं। इन पत्रिकाओं के संपादकों ने निबंधों को संग्रह रूप में प्रकाशित करने की अनुमति दे दी है, एतदर्थ उन्हें धन्यबाद।

प्रूफ़ देखने पर भी छापे की कुछ अशुद्धियाँ रह ही गईं। विज्ञ पाठक उन्हें शुद्ध कर लेंगे।

लखनऊ,
फ़र्वरी १९४२।

भ. श. उ.

१

भारतीय विचारों का ऋणी विश्व

आज भारतवर्ष में सर्वत्र अनुकरण की ही धूम है। यद्यपि कुछ दिनों से स्वदेशी की पुकार की आवाज़ बहुत सुन पड़ने लगी है, तथापि उससे बराबर विदेशी गन्ध आती है। इसका कारण यह है कि स्वदेशी की आत्मा अभी तक हमारे हृदय-मन्दिरों में प्रतिष्ठित नहीं हुई। उसका बाहरी आवरणमात्र हमारे सम्मुख दृश्य-पट की भाँति नाचा करता है। इस स्वदेशी को यदि हम अच्छी तरह कर देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि अभी हमारे दिलों में इसकी लगन नहीं लगी है। यदि शुद्ध स्वदेशी की महिमा गा-गा कर हम कोई वस्तु लेते हैं तो उसका प्रयोग बराबर विदेशी शैली में करते हैं। जब तक स्वदेशी वस्तुओं को हम स्वदेशी रीति के अनुसार नहीं बर्तेंगे तब तक स्वदेशी की पुकार ढोंगमात्र होगी, और उसका व्यवहार होगा केवल एक प्रकार का वर्गीय अहङ्कार। अनुकरण का रूप इस प्रकार व्यापक हो गया है कि न केवल बाह्य आचरण में प्रत्युत्

आभ्यन्तर विचारों तक में इसका विष भिन गया है। जब तक विचारों तक आदर्शों में स्वदेशी का अमृत नहीं बसेगा, तब तक भारतीय राष्ट्र-शरीर के गठन की कोई आशा नहीं। माना, हम स्वतन्त्र हो जायँगे, पर यदि हमारा नैतिक पतन हो जायगा, यदि हम उन्हीं रूढ़ि दुर्बलताओं के शिकार हो जायँगे, जिनके नीचे पड़े योरप और अमरीका कराह रहे हैं तो हमारी इस स्वतन्त्रता का अर्थ क्या होगा? रोम के साम्राज्य की सीमा एक समय भारतीय सीमा से आ लगी थी। बीच के सारे देश रोमन लीजियनों के विजयी पदों तले रौंदे जा चुके थे। रोमन विजय वैजयन्ती पर चित्रित ईगिल (गरुड़) पक्षी के पंखों से उठे पवन की गति जब कहीं नहीं रुकती थी, उस समय को ही शायद इतिहास के पण्डित रोम के विजय की चरम सीमा समझेंगे।

परन्तु इसका प्रमाण तो गिब्बन (Gibbon) ही दे सकता है। जीते जाने के बाद भी यूनानी रोमन जातियों को केवल बर्बर और दस्यु ही कहते रहे। और, वास्तव में परिणाम भी क्या हुआ? यदि आज कोई जिज्ञासु रोमन (लैटिन) साहित्य में कुछ उसका अपना खोजे तो क्या पाएगा? केवल सैनिक नीति—दस्यु-नीति—जिसकी संस्कृति और सभ्यता के युग में कोई आवश्यकता नहीं हुआ करती। और वह युद्ध-नीति भी स्पार्टा के सैन्यविशारदों के सम्मुख कितनी प्रौढ़ थी, यह सभी इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं। क्या विद्या, ज्ञान, साहित्य, आन्वीक्षिकी, कला, क़ानून और क्या संस्कृति के विकास के अन्य स्तम्भ, सभी एथेन्स के मस्तिष्क की उपज हैं। हाँ, रोम के भौतिक पतन के समय अवश्य उसमें कुछ उन्नति के कीट प्रवेश कर चुके थे। गॉथ और हूणाधिपति अत्तिल जिस समय योरप को प्रलय की अग्नि से भस्म कर रहे थे उस समय रोम के सिनेट में कुछ निर्भीक

सिनेटर अपनी स्वदेशीयता को भाषा और बल प्रदान कर रहे थे। जिस समय विध्वंसकारी सिनेट के मन्त्रणागृह में प्रवेश कर कला की वस्तुओं का अन्त कर रहे थे, उस समय भी वे पाँच सिनेटर रोम के त्राण का उपाय सोच रहे थे। जब आततायियों ने देखा कि उनकी नंगी तलवारों और रक्तरञ्जित भालों पर एक नज़र डालकर भी ये सदस्य अपने काम की धुन में मस्त हैं, इनके मुख-मण्डल का एक स्नायु भी कम्पित नहीं होता तब उनके विस्मय का ठिकाना न रहा। सारा मध्य-योरप जिनके पैरों तले लोट चुका है, उनकी अभ्यर्थना ये कौन हैं जो नहीं करते? सभ्यता के उन शत्रुओं की तलवारें तड़पकर सिनेटरों के वक्ष-स्थलों में प्रवेश कर गईं। पर विजय किनकी हुई? उन आतता-यियों की अथवा निर्भीक शहीदों की?

इस प्रकार विजय संस्कृति की होती है, शक्ति की नहीं। पाश्चात्य संस्कृति स्वान्तरिक सत्य पर नहीं, वरन् भौतिक शक्ति पर स्थित है। प्रतीची की संस्कृति का अनुकरण अमृतत्व का विरोधी और मृत्यु का समर्थक है। प्रतीची का उत्थान सदा अवसान का सिद्धान्त है, जिसमें उन्नत सूर्य तिरोहित होता है। सभ्यता और संस्कृति का प्रारम्भ सदा प्राची-गगन से सूर्य के साथ होता है। और इसीलिए पाश्चात्य प्रभुता और विज्ञान को यथार्थ ज्ञानी पूर्वीयों ने क्षणिक, मिथ्या और अपावन माना है। वेदों ने बहुत पूर्व पाश्चात्य संस्कृति के जन्म से सहस्रों वर्ष पूर्व 'मा मा प्रापत्प्रतीचिका' की आवाज़ उठाई थी। विकास और अवसान की रूढ़ि तब की है, जब क़र्ज़न साहब के शब्दों में ब्रिटेन के रहनेवाले अपने गात्रों को रंगकर बर्बरों की भाँति वनों में घूमा करते थे। (When Britons wandered painted Savages in the woods)। प्रतीचिका की शरण वास्तव में मृत्यु की शरण है, जिसकी ओर हम लोग भयानक वेग से

भागे जा रहे हैं। जब सर्वनाश का समय उपस्थित होता है तब जीव बिना किसी विचार के मृत्यु की ओर दौड़ते हैं। प्रतीची का अनुकरण करता हुआ संसार पतन की ओर द्रुत गति से बढ़ रहा है।

> यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगाः
> विशन्ति नाशाय समृद्धिवेगाः।
> तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
> स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः। गी० ११-२६।

अनुकरण का अभिलाषी भारत पश्चिम की ओर वेगपूर्वक मृत्यु के मुख में नाश के अर्थ दीपशिखा की ओर दौड़ते हुये पतंगों की भाँति अग्रसर हो रहा है और ऋषि-वाक्य—मा मा प्रापत्प्रतीचिका—आरण्यरुदन की भाँति उसे सुन नहीं पड़ता।

'स्वान्तः सुखाय' की प्रवृत्ति इतनी बुरी नहीं, परन्तु 'स्व-सुखाय' की किञ्चित् मात्रा भी विष की प्रचुर घूँट है। 'स्वसुखाय' ही पाश्चात्य समाज की नींव है। परिवार का सुख उन्होंने क्या जाना, जो केवल स्वसुख की चिन्ता में औरों को भूले हुए हैं? उनके समस्त मिल का Greatest good for the greatest number का सिद्धान्त केवल एक असिद्धि, एक विडम्बना है। और यदि हम इसे सिद्ध समझ लें तो इसका सत्य ही किस मात्रा का है। अधिक से अधिक मानव संख्या के लिए अधिक से अधिक भलाई की प्रभुता कहाँ तक है। यदि हम इसे अपने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अथवा बुद्ध के निःशेष जनसमूह के निर्वाण के आदर्श के समीप रख दें तो इसका महत्व कितना ओछा हो जायगा। विश्व को शृङ्खला में जकड़ा देख जब भारतीय समाजशास्त्री उसकी स्वतन्त्रता के निमित्त चिन्ताकुल हो चीत्कार कर उठता है तब प्रतीची के सारे मानवता-सम्बन्धी सिद्धान्त (Humanitarian Principles) चरने चले जाते हैं।

भारतवर्ष क्षणिक की अपेक्षा नहीं करता, वह सत्य तप और ज्ञान को लेकर विश्वव्यापी प्रकृति के अटल नियमों की ओर अग्रसर होता है। विश्व-कल्याण उसका ध्येय है। राष्ट्रीयता उसके सामने अस्थायी और सीमित है। यदि उसके सिद्धान्तों का प्रचार इस लोक में हो सकता, यदि स्वार्थपर राष्ट्र उसके मार्ग में काँटे नहीं बिछाते, तो आज अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के लिये League of Nations की आवश्यकता न होती और यदि प्रचार का संगठन यहीं से करना होता, तो कम से कम League of Nations का कार्य बहुत सरल हो जाता।

अस्तु। अब हम बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि सर्वथा मौलिक इस भारतवर्ष ने अपनी योग्यता के प्रचार से विश्व को कहाँ तक ऋणी बनाया है, संसार धर्म, विचार और साहित्य में कहाँ तक इसका क़ैदी है। मौलिकता से मेरा अभिप्राय उत्पादन से नहीं है क्योंकि यह कार्य कोई देश अथवा जाति नहीं कर सकती। यह प्रकृति का कार्य है। देश और जाति तो केवल उसका प्रथम दर्शन करके मौलिक कहलाते हैं। राजाओं में चतुर स्वयं सालोमन ने कहा है कि 'ज्ञान केवल पुनः स्मृति है' (Knowledge is but remembrance) और यूनानी पंडित प्लेटो के कथनानुसार 'मौलिकता विस्मृति मात्र है' (Novelty is but oblivion)। सो प्रथम दार्शनिक इस देश की छाया किन-किन देशों पर किस-किस रूप में पड़ी है, हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे।

सब देशों की ऐतिहासिक प्राचीनता का पता चल जाता है, परन्तु मिसर देश का अतीत अन्धकार की घोर घनता में गुप्त है। वहाँ के पिरामिडों का निर्माण ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुका था। यदि हमें अपने सुदूर अतीत का साक्षात्कार करना है तो दूसरे देशों के अन्तरंग में झाँकना पड़ेगा। उन पिरामिडों के वक्ष में किसी समय के समृद्धिशाली और अतीव ऐश्वर्यवान्

मिसर के सम्राट् और अन्य धन-कुबेर अनन्त निद्रा में सो रहे हैं। उनके सुरक्षित शव कलकत्ते के इंडियन अजायबघर अथवा लन्दन के ब्रिटिश-म्यूज़ियम में देखे जा सकते हैं। यदि इन ममियों के ऊपर हम दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जायगा कि इनको कालक्षय से बचाने के लिए विविध मसालों का व्यवहार किया गया है और इनकी पावनता सुरक्षित रखने के लिए इन्हें एक प्रकार के श्वेत, चिकने और पतले वस्त्र में लपेटकर रखा है। यह वस्त्र कैसा है? संसार के ख्यातनामा पुरातत्ववादियों और द्रव्यपारखियों का विचार है कि यह भारत के मलमल के सिवा अन्य वस्त्र नहीं हो सकता। यदि हम किसी अज्ञात-नामा विद्वान् के लिखे Peripius of the Erythrean Sea (ईसा की प्रथम शताब्दी) के पन्ने उलटें, तो विदित होगा कि भारत का, मिसर, अरब और रोम के साथ कितना घना व्यापारिक सम्बन्ध था। रोम के सम्राटों को तो भारतीय मलमल को दूर करने के लिए अपने शौक़ीन नागरिकों और व्यापारियों पर पूर्ण-मूल्य-कर लगाने की आवश्यकता पड़ी थी। इस प्रकार भारतवर्ष के बने वस्त्र मिसर और रोम के धन-कुबेरों और नागरिकों की शृंगारकामना की पूर्ति करते थे। इतने महँगे, सुन्दर और हलके वस्त्र मिसर के सम्राटों और रोम के वासना-वशी युवक-युवतियों के सिवा अन्य कौन ख़रीद सकते थे? उस समय की भारतीय कला का विकास आज के ह्रास पर व्यंग की हँसी क्यों न हँसे?

परन्तु मिसर से भी प्राचीन सभ्यता दक्षिणी ईरान यानी सुमेर की मानी गई है। यह भारत के लिए कुछ कम गौरव की बात नहीं है कि पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सुमेर की सभ्यता को मोहनजोदेड़ो और हड़प्पा आदि की सिन्धु-काँठे की सभ्यता का ऋणी घोषित किया है।

यों तो योरप और मध्य एशिया में समय-समय पर विविध धर्मों का प्रचार होता रहा, बेबिलोनिया और असीरिया में नागरिक सदा किसी न किसी धर्म के अनुयायी बने रहे, फिर भी सर्व प्रथम स्पष्ट धर्म का जो संघरूप हमारे सम्मुख आता है, वह ख्रिष्टीय अथवा ईसाई धर्म ही है। इस धर्म के बाइबिल-नव-सिद्धान्त (New Testament) के अध्यात्मतत्व को लक्ष्य कर यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि इस पर बौद्ध-धर्म का पूरा प्रभाव पड़ा है। ईसा की शिक्षाओं पर गौतम की शिक्षण-प्रणाली और भूतानुकम्पा का जो प्रभाव पड़ा है, उसके विषय में तत्सम्बन्धी विद्वानों की दो रायें नहीं हैं। कुछ लोगों का तो यहाँ तक विचार है कि ईसा ने भारत में रहकर ही अपने ज्ञान को प्राप्त किया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईसाई-धर्म के पंडित और ईसा के चरित्र-लेखक उनके जीवन के अज्ञात बारह वर्षों का कुछ पता न लगा सके। कुछ भी हो, बौद्ध और ईसाई धर्मों के सिद्धान्तों में स्पष्ट साम्य है। संघ-धर्म दोनों ही में प्रमुख रूप में मिलता है। जीवों पर दया और अहिंसा दोनों के प्राणस्वरूप हैं। अशोक ने अपने चतुर्दश शिलालेखों में लिखवाया है कि किस प्रकार मध्य एशिया और योरप में बौद्ध-धर्म के व्याख्याता भेजकर उसने उसका वहाँ प्रचार कराया था। इस प्रकार भारतवर्ष के बाहर सिंहल, बर्मा, स्याम, अनाम, कम्बोडिया, चीन, जापान, चीनी तुर्किस्तान, सीरिया, मेसीडोनिया, मिसर, साइरिन और एपिरस आदि बाईस देशों पर अशोक ने 'धर्म-विजय' प्राप्त की थी। जो मध्य एशिया के बर्बर निवासी रक्त और लूट के नाम पर दौड़ पड़ते हैं उनके ही पूर्वज अपने दुर्द्धर्ष और रक्तपिपासु स्वभाव के आचरण छोड़कर इस अहिंसा प्रधान बौद्ध-धर्म के उपासक बन बैठे और आज दिन वे इस सत्य के स्मारकस्वरूप भारतीय बौद्धकला के अनेक चिह्न मध्य

एशिया में छोड़ गये हैं, जिनकी उपलब्धि का श्रेय सर आरेल स्टाइन (Sir Aurel Staein) नामक योरपीय विद्वान् को है। मध्य एशिया में फैले भारतीय कला के सुन्दर चित्रण एवं मूर्ति-निर्माण-कला के दृश्य नई दिल्ली के 'मध्य एशिया म्यूज़ियम' (Central Asian Museum) में देखे जा सकते हैं। प्रबल और भयानक हूण सूर्य और शिव के उपासक बन गये। पश्चिमी एशिया से आनेवाले शक और कुषाण सूर्य और शिव के परम भक्त थे, फिर बौद्ध-धर्म के समर्थक बने; अन्त में कनिष्क तो अशोक की भाँति बौद्ध-धर्म का एक स्तम्भ ही बन गया और मध्य एशिया में इस धर्म का प्रचार अधिकतर उसने ही किया। जब जब रोमन और ग्रीक राजाओं का सम्बन्ध भारतवर्ष से हुआ है, तब तब उन्होंने भारतीय राजधर्म—कभी बौद्ध, कभी शैव, कभी वैष्णव—ग्रहण कर लिया है। सीमाप्रान्त के बैक्ट्रियन राजाओं की मुद्राओं पर कभी शिव के साथ त्रिशूली और नन्दी की और कभी लक्ष्मी की आकृति मिलती है। ग्रीक राजदूत परम वैष्णव प्रसिद्ध हेलिओदोर ने विदिशा में विष्णु के नाम पर एक सुन्दर स्तम्भ की स्थापना की और उसके ऊपर उसके वाहन गरुड़ की आकृति स्थापित की। हमारा तो विश्वास है कि रोमन लीजियनों की पताका पर ईगिल पक्षी (गरुड़) की आकृति भारत के ही गरुड़ध्वज की छाप है। सीमाप्रान्त पर राज्य करनेवाले और पुष्यमित्र द्वारा पराजित होनेवाले ग्रीक-राजा मिनेंडर ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था और उसके पांडित्य का सिक्का बौद्ध साहित्य पर जम गया है। उसी के प्रश्नों और शंकाओं के निमित्त प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्द पह्न' की रचना हुई थी।

भारत का नाम विदेशों में इतना प्रसिद्ध हो गया था कि विदेशी इसके प्रति विविध प्रकार की कल्पनाएँ किया करते थे।

इसके ऐश्वर्य और अनोखेपन की दूर-दूर तक चर्चा होती थी। ऐसे अवसर पर कुछ गप्पियों को गप्पें मारने के भी मौक़े मिल जाया करते थे। एक ग्रीक इतिहासकार हेरोदोतस् का कथन है कि उसने भारत में एक सिंह की दो दुमें देखी थीं। उसके उत्तराधिकारी यदि आज भारत का उचितानुचित वर्णन योरप को पेश करें तो क्या आश्चर्य की बात है!

ज्योतिष के सम्बन्ध में भी भारत का और देशों पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है। ग्रहण का विषय सर्वप्रथम भारतवर्ष के ही गणितज्ञों को स्पष्ट हुआ। ग्रहण की विस्मयजनकता आज सरल हो गई है, परन्तु पहलेपहल जब किसी भारतीय ज्योतिर्विशारद और गणित-पण्डित (अत्रि) ने घोषित किया होगा कि अमुक मास के अमुक दिवस को अमुक क्षण में चमकता सूर्य अथवा चन्द्रमा एकदम ग़ायब हो जायगा तो विदेशी उसे केवल जादूगर अथवा देवता के सिवा क्या समझते होंगे? यथार्थ ही कितने आश्चर्य की बात है। परन्तु यह आज गणित का एक साधारण फल है, जिसे भारतीय पञ्चाङ्ग वर्षफल के साथ वर्ष के आरम्भ में ही प्रकाशित कर दिया करता है। गणित की पराकाष्ठा पाँचवीं शताब्दी में ही आर्यभट्ट और भास्कराचार्य ने कर दी थी। आर्यभट्ट द्वारा यह घोषणा कि सूर्य स्थित है और पृथ्वी उसके चारों ओर चक्कर काटती है, तभी की जा चुकी थी, जब गैलीलियो गर्भ में भी नहीं आया था। पृथ्वी की परिधि की जो माप-गणना आर्यभट्ट ने की थी, उसको ही आज सहस्रों वर्ष के प्रयास के पश्चात् आधुनिक वैज्ञानिकों ने प्रायः अपनाया है। अरब ने 'अंकगणित' और 'बीजगणित' भारतवर्ष से ही पहलेपहल सीखकर योरप को सिखाया था। अरबवासी 'अंक' को 'हिन्दसा' अर्थात् हिन्द से सीखा हुआ कहते हैं। बीज-गणित तो इन्हें काटता-सा था। वह इन्हें इतना कठिन प्रतीत हुआ था कि ये उसे अ-अल् (इल्म)

जबर (कठिन) कहकर चिल्लाते थे। इस प्रकार इन विद्याओं की खोज और उनका प्रचार करने का श्रेय भारतवर्ष को ही रहा है। अन्य देश सदा इसके शिष्य होकर ही बढ़े हैं।

डा० जान्स्टन की राय में ओषधि-विज्ञान का आदि-स्थान भारतवर्ष ही है। प्रथम यहीं ओषधियों और अस्पतालों का जन्म हुआ। तक्षशिला का औषधालय संसारप्रसिद्ध था, जहाँ संसार भर के रोगी आते थे। विशेषकर यहाँ का नेत्र-औषधालय तो बड़ा ही विख्यात था। जातक कथाओं से पता चलता है कि चीन का एक राजकुमार संसार-भ्रमण कर आया, पर उसके नेत्र अच्छे नहीं हुए। फिर तक्षशिला में, जहाँ के जर्राह चीर-फाड़ में बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, वह पहुँचा और उसकी आँखें आपरेशन से अच्छी हुईं। यहीं जीवक और चरक का शिक्षण हुआ था। जीवक ने गौतम बुद्ध की दवा की थी। मथुरा-म्यूज़ियम में सुरक्षित एक शिलापट्ट पर एक प्रहसनपूर्ण कथा उत्कीर्ण है, जिसमें कुर्सियों पर दो नेत्ररोगी बन्दर बैठे हैं और दो दूसरे चिकित्सक, बन्दर-सर्जन, उनके नेत्रों की परीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार के मवेशी-अस्पताल अशोक ने न केवल भारत में, वरन् योरप और एशिया के भिन्न-भिन्न देशों में भी खोले थे। अतः ओषधि-विज्ञान का प्रारम्भ भी भारतवर्ष में ही हुआ।

धार्मिक विचारों और विद्याओं का ऋण विदेशों पर कहाँ तक है, यह तो हम ऊपर दिखा चुके। अब यह देखना है कि संसार के साहित्य पर भारतवर्ष के साहित्य का क्या असर पड़ा है।

संस्कृत-साहित्य के कई ग्रन्थों का अनुवाद संसार की भाषाओं में बहुत प्राचीन काल में ही हो चुका था। इस प्रकार के ग्रन्थों में पञ्चतन्त्र का स्थान मुख्य है। इस ग्रन्थ ने बहुत

प्राचीन काल से ही अनेक राष्ट्रों के बच्चों का मनोरञ्जन कर उनको सुबोध बनाया है। ईसा की पाँचवीं शताब्दि में ही इसका अनुवाद ईरान के बादशाह नौशेरवाँ (सं० ५८८-६३५) के मंत्री बार्फुया ने पेह्लवी भाषा में कर लिया था। फिर इसके अनुवाद चीनी, अरबी, फ़ारसी, ग्रीक, लैटिन, इटैलियन, फ्रेन्च, जर्मन, डच, स्पेनिश, अँगरेज़ी आदि सारे संसार की भाषाओं में हुए। जितने अनुवाद इस ग्रन्थ के हुए हैं, उतने शायद अन्य किसी भाषा के किसी ग्रन्थ के नहीं हुए। विश्व इस रूप में भारत का बड़ा ऋणी है। जब संसार अन्धकार में पड़ा हुआ था तभी अपने बच्चों को सुबोध बनाने के लिए भारतीय नीति-कारों ने सुन्दर कहानियों की कल्पना की और फलस्वरूप पञ्च-तन्त्र-जैसा मौलिक ग्रन्थ रच डाला। कहानियों की कल्पना सर्व-प्रथम भारतवर्ष ने ही की। जातक-कथाएँ, जिनका संकलन शायद स्वयं गौतम बुद्ध ने किया था, छठी शताब्दि ई० पू० की हैं। उनका प्रारम्भ शायद दसवीं शताब्दि ई० पू० के आस-पास हुआ हो। भारतीय कथाओं का फ़ारस और अरब पर ख़ासा प्रभाव पड़ा है। अरेबियन नाइट्स नामक ग्रन्थ इस प्रणाली का अच्छा उदाहरण है। चीनियों के दो विश्वकोषों में प्रथम संवत् ७२५ में बना था। इनमें बहुतेरी भारतीय कथाओं का उल्लेख है; साथ ही यह भी लिखा है कि ये कथाएँ २०२ भारतीय बौद्ध-ग्रन्थों से ली गई हैं। सीरिया के अनुवाद में पञ्चतन्त्र का नाम 'कलिलग-दमनग' तथा अरबी में 'कलीला-दमना' लिखा गया है। यह शायद इसलिए कि इसके प्रथम खण्ड में 'करटक' और 'दमनग'-नामक दो शृगालों का वर्णन विशेष से है। अश्व-घोष के 'बुद्धचरित्र'-नामक ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था और शुद्ध संस्कृत रूप में ही इसको मध्य एशिया की बौद्ध जातियों ने व्यवहार में लाया है, जैसा कि सर आरेल

स्टाइन की चीनी-तुर्किस्तान आदि की खुदाइयों से ज्ञात होता है।

वाल्मीकीय रामायण का भी संसार की बहुतेरी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। जावा आदि भारतीय उपनिवेशों में वाणिज्य के साथ-साथ यहाँ की संस्कृति और साहित्य का भी प्रसार हुआ। वहाँ की कला जो भारतीय कला है, अब भी सुरक्षित है। इसके सिवा वहाँ की भाषा भी संस्कृत की ही पुत्री है। वाल्मीकीय रामायण, जिसकी एक-एक पंक्ति मूर्त्तिरूप में मन्दिरों की दीवारों पर उत्कीर्ण है, वहाँ का सर्वमान्य ग्रन्थ है और राम-सीता जावानियों के आराध्य देव हैं। रामायण को खरे रूप में जीवित रखना जावानियों का ही काम है, वरन् भारतीय प्रतियों के पाठ में बड़ा अन्तर पड़ गया है, जिससे कहीं-कहीं यथार्थता जानने में बड़ी कठिनाई आ पड़ती है। जावा ने महाभारत आदि अनेक काव्यों को भी सुरक्षित रखा है।

यहाँ एक और आश्चर्य के विषय का भी उल्लेख कर देना युक्ति-युक्त जँचता है। इन पंक्तियों के लेखक की एक दफ़ा एक लिथुएनियन विद्वान् श्री ए० पोश्का से मुलाक़ात हुई थी। उसने कहा था कि हमारे यहाँ संस्कृत बोली जाती है। हमारे देवता राम और कृष्ण हैं। वेदों के सारे देवताओं का हमारे देश में पूजन होता है। गंगा और यमुना हमारे देश की भी नदियाँ हैं। गाय की हमारे यहाँ बड़ी महिमा है। जब हमने अपने मित्र श्रीपोश्का के कथन की चर्चा बड़ोदा में होनेवाले सातवें प्राच्य परिषद् (Seventh Oriental Conference) में विद्वानों से की, तो उन्होंने उसका विश्वास नहीं किया। केवल श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल (परिषद् के सभापति) तथा डा० प्राणनाथ विद्यालंकार ने इस कथन में इतना अविश्वास नहीं किया था। बाद को जब मैंने स्वयं Encyclopaedia Britannica नामक अँगरेजी विश्वकोष में Lithuania के विषय पर

श्री पी० ए० क्रापाट्किन का लेख पढ़ा, तब मेरी आँखें खुल गईं। उसमें लिखा है कि "उनकी Lithuanian भाषा सम्कृत भाषा से बड़ा साम्य रखती है और यह विश्वास के साथ कहा जाता है कि नीमेन नदी के तट पर रहनेवाले कृषक संस्कृत के सारे पद अच्छी तरह समझ सकते हैं।

(Their language has great similarities to the Sanskrit. It is affirmed that whole Sanskrit phrases are well understood by the peasants of the banks of the Niemen—P 703 first column).

श्रीपोश्का ने अपनी भाषा के कुछ उदाहरण भी दिये थे, 'नक्तगन' (नक्तंगण) अर्थात् रात्रिगोष्ठी, जो अलाव (कौड़ा) के चतुर्दिक् बैठती है, 'तब क्या नाम' अर्थात् तुम्हारा क्या नाम है? इसी प्रकार लिथुएनियन लोगों के रुदन-गानों की संख्या अपरिमित है और उनके समूह की शुद्ध लिथुएनियन संज्ञा 'रौदस' है, जिसका वर्णन Encyclopaedia Britannica में भी आया है—

The elegies Raudas are very melancholy, and a rare beauty.

इस रौदस के कुछ उदाहरण भी श्रीपोश्का ने दिये थे, जिनका उल्लेख हम किसी अन्य निबंध में करेंगे। इस विश्वकोष में लिथुएनिया-निवासियों के शरीर का जो वर्णन आया है, वह ठीक आर्यों के वर्णन-सा है—"उनके शरीर की बनावट बलिष्ठ, सुन्दर होती है; मुखमण्डल बहुधा लम्बप्राय होता है और नासिका, नेत्र आदि अंग-प्रत्यंग सुन्दर होते हैं; उनके बड़े सुन्दर और स्वच्छ केश, नीले नेत्र और सुनम्र त्वचा पोल और रूसियों से उनकी जातीय भिन्नता स्पष्ट करते हैं (The Lithuanians are well built, the face is mostly elongated, the

features fine, the very fair hair, blue eyes,and delicate skin distinguished them from Poles and Russians—Ibid)

यह स्मरण रखने की बात है कि लिथुएनिया रूस के उत्तर बाल्टिक समुद्र के तट का एक योरपीय राष्ट्र है। मेरे ये विचार, सम्भव है, आर्यों के निष्क्रमण पर भी कुछ प्रकाश डालें।

उपनिषदों का प्रभाव विदेशों पर कुछ थोड़ा नहीं पड़ा है। शाहजहाँ के बेटे दारा शिकोह ने स्वयं संस्कृत से उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद किया था, जिसके कारण उसे मुसलमानों ने घृणास्पद 'काफ़िर' की संज्ञा प्रदान की थी। योरपीय अनुवाद प्रायः उसी प्रति से हुए हैं (दारा की गोआ के ईसाइयों से बड़ी मित्रता थी, सम्भव है, उन्होंने ही लैटिन में उपनिषदों का फ़ारसी से अनुवाद किया हो)। यों तो आधुनिक अनुवाद योरप के संस्कृत पण्डितों ने मूल-संस्कृत से ही किये हैं। फ़ारसी की ही प्रति से लैटिन भाषा में उपनिषदों का अनुवाद पढ़कर ही जर्मन फ़िलासफ़र शापेनहर (Schopenhaur) उनका गुणगान कर उठा था। उसकी साधुता प्रसिद्ध है। जब किसी ने उससे एक बार पूछा कि तुम क्यों इस पचड़े में पड़े रहते हो, तो उसने थिरककर बड़े उत्साह के साथ उत्तर दिया—"उपनिषद् मेरे जीवन-काल में शांति के आश्रय रहे हैं, मेरी मृत्यु में भी वे ही शांति के आश्रय होंगे (Ophanikhads have been the solace in my life, they will be my solace in my death) कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि कैन्ट और हीगल के मतों पर भी भारतीयता की छाप है। परंतु इस बात पर सहसा विश्वास करने का साहस नहीं होता। यों तो संसार के सभी धर्मों और विचारों की ध्वनि भारतीय दर्शनों और अन्य धार्मिक ग्रन्थों से निकलती है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कैण्ट

के समय में पाश्चात्य विद्वानों को संस्कृत की रत्ननिधि की गन्ध मिल चुकी थी, जिस पर वे समय-असमय टूटने लगे थे। सर्वप्रथम १८०८ में फ्रेडरिक श्लेगेल Fredrich Schlegel ने अपनी Language and Wisdom of the Old Hindus नाम की पुस्तक द्वारा हिन्दू-अध्यात्म से योरपीय साहित्य को परिचित कराया। फिर तो ऐसा ताँता लगा कि शीघ्र संस्कृत के ग्रंथों का अध्ययन आरम्भ हो गया और योरपीय विद्वानों का एक प्रबल गुट्ट ही इस कार्य के लिए प्रस्तुत हो गया। कुछ दिनों बाद यह भी विचार हुआ कि यह सब केवल मृगतृष्णा ही थी, वास्तव में यहाँ है कुछ नहीं। परन्तु शीघ्र मैक्समूलर ने ऋग्वेद को 'गड़रियों की गीत' कहनेवाली, अपनी नीति बदलकर उसका वह आदर किया, जो एक अनन्य भक्त द्वारा ही सम्भव था। ऋग्वेद को 'मनुष्यजाति की प्रथम ज्ञात पुस्तक' विद्वानों ने घोषित किया और मैक्समूलर ने India and what she Can Teach Us लिखकर विदेशों में भारत का सिक्का जमा दिया। फिर तो उसने और अन्य विद्वानों ने भारतीय साहित्य पर सहस्रों ग्रन्थ लिखकर उनका सर्वत्र प्रचार किया और भारतीय विषयों के अध्ययन के निमित्त संसार के सारे विश्वविद्यालयों में विभाग खुल गये। जर्मनी ने अपने यहाँ संस्कृत के अनेक पीठ स्थापित किये। अब तो बौद्धों ने भी फिर नये सिरे से योरप में अपने मठ बनाने आरम्भ कर दिये हैं और ख़ास लन्दन के अन्दर महाबोधी सोसाइटी का एक ब्रांच बौद्धधर्म में लोगों को दीक्षित करने लगा है। आर्य-समाज ने हाल ही वहाँ एक मन्दिर की स्थापना की है, जिसके अन्य ब्रांच अन्य देशों में भी 'विश्व को आर्य' बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। मध्य एशिया और फ़ीजी, दक्षिण आफ्रिका आदि में तो उन्होंने काफ़ी सफलता प्राप्त की है। संसार

में आजकल थियासफ़ी का भी बड़ा प्रचार है। इस नये धर्म के गुरुओं के आचरण भारतीय आदर्शों से ही अनुप्राणित हैं। वे भारतीय वेशभूषा धारण करते हैं और उनके धर्म में गीता और कृष्ण के ज्ञान की प्रधानता स्पष्ट है। अभी दो साल हुए, शिकागो में जो सर्वधर्मसम्मेलन हुआ था, उसमें यह निश्चय किया गया कि सारे धर्मों के प्रतिनिधियों से उनकी प्रार्थनाएँ माँगी जायँ, जिसकी सर्वोत्तम समझी जाय, वही सम्मेलन के आरम्भ में कही जाय। जब सबकी प्रार्थनाएँ आ गई तब भारतीय हिंदू-धर्म की प्रार्थना का ही एक मन्त्र सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ और इस प्रकार संसार के धर्मों पर भारतीय धर्म ने अपनी विजय की छाप लगा दी। वह मन्त्र इस प्रकार था—

असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

लोगों ने यह कहा कि इस प्रार्थना में एकदेशीयता का कहीं नाम तक नहीं है। कहीं, कोई इस मन्त्र को दुहरा सकता है।

अब हम कतिपय उन स्पष्ट संस्कृत-ग्रंथों को लेंगे, जिनका प्रभाव आधुनिक विश्व-साहित्य पर पड़ा है। इनमें प्रमुख निम्न-लिखित हैं—(१) अनातोल फ्रास (Anatole France) की 'ते' (Thais) जिस पर उन्हें नोबिल-प्राइज़-नामक पुरस्कार मिला था। इस उपन्यास की पूरी कथा दण्डि कवि-विरचित दशकुमारचरित की एक कथा के आधार पर लिखी गई है। (२) राइडर हैगर्ड (Rider Hagard) की लिखी शी (She) पर बाणभट्ट-कृत कादम्बरी का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। (३) Goethe नामक जर्मन कवि के नाटक 'फ़ास्ट' (Faust) पर कालिदास

की शकुन्तला का जो प्रभाव है (अथवा शकुन्तला जिसका आधार है) उसे उसने स्वयं स्वीकार किया है।

इन ग्रंथों के विशद वर्णन और पाश्चात्य विद्वानों (विशेषकर अनातोल फ्रांस एवं राइडर हैगर्ड) के साहस के व्यक्तीकरण के लिए तो इस निबन्ध में पूरा स्थान नहीं है, परन्तु उनका एक सरसरी वर्णन हम यहाँ किये देते हैं। केवल इन तीनों विदेशी ग्रन्थकारों के भारतीय ऋण के स्पष्टीकरण के लिए एक स्वतंत्र बड़ा निबंध चाहिए, जो हम फिर कभी लिखने का प्रयत्न करेंगे। इस समय केवल उनके क्षणिक दर्शन से संतोष करना पड़ेगा।

'ते' की कथा का अंतरंग इस प्रकार है—मिसर देश का रहनेवाला एक प्रभावशाली मिशनरी ग्रीस देश के एक नगर में रहनेवाली पतिता वेश्या का हाल सुनकर उसे सुधारने के निमित्त ग्रीस की ओर जाता है। वेश्या के नगर में पहुँचकर उसके भौतिक ऐश्वर्य को देखकर वह दंग रह जाता है। नगर के सारे धनकुबेर उसके इशारों पर नाचते हैं। उसके एक कटाक्ष की कृपा के लिए बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति उसके दरवाजे पर भीड़ लगाये रहते हैं। सुन्दर-से-सुन्दर गण्यमान्य युवक दिन-रात उसके प्रासाद में पड़े पतन की ओर गिरे जा रहे हैं। मिशनरी वहाँ रहकर अपना कार्य आरम्भ करता है। पर जैसे-जैसे वह उसके सुधार में दत्तचित्त होकर उसकी ओर अग्रसर होता है, वैसे-ही-वसे वह उसकी ओर धीरे-धीरे आकृष्ट होता जाता है, और अंत में जब उसका सुधार हो जाता है तब यह मिशनरी उसका पूर्ण शिकार होकर उसके प्रेम में दीवाना हो जाता है। संक्षेप में यही 'ते' की कथा है।

'दशकुमार-चरित' की 'पूर्व-पीठिका' के द्वितीयोच्छ्वास के 'अपहारवर्म-चरित' में मरीचि महर्षि की कथा इस प्रकार है—देव, जब मैं जागकर आपको ढूँढ़ने लगा, तब लोगों ने यह कहा

कि देखो गंगा के तट पर भूत-भविष्य के ज्ञाता मरीचि नाम के एक महर्षि रहते हैं। त्रिकालदर्शी वे महात्मा वहीं बैठे कुमार का पता बता देंगे। जब मैं उनके पास पहुँचा तब एक मनुष्य से पूछा, क्या यहाँ त्रिकालदर्शी कोई महर्षि मरीचि नाम के रहते हैं? उसने कहा—"हाँ रहते तो थे, पर अब नहीं हैं। जब वे उग्र तपस्वी ईश-भजन में रत एक बार अपनी कुटी में बैठे हुए थे, तब नगर से काममञ्जरी नाम की एक अद्वितीय सुन्दरी वेश्या अपने बाल खोले अस्तव्यस्त वस्त्रोंवाली, गिरती-पड़ती अपनी माता और अनुचरों द्वारा अनुसृत कुटी के द्वार पर चीत्कार करती पहुँची। काममञ्जरी अपने व्यवसाय से उदासीन होकर ईश-भजन में लगना चाहती है और उसकी माता और अन्य परिजन अपनी परवरिश के लिए उसको अपने व्यवसाय में लगे रहने के लिए बाध्य करना चाहते हैं—ऐसा मुनि से कहा गया। काममञ्जरी की प्रार्थना से द्रवित होकर ऋषि ने उसे अपने यहाँ रख लिया और तप-ज्ञान का उपदेश करने लगे। धीरे-धीरे काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष की विवेचना होने लगी। एक बार एकांत में काममञ्जरी ने कहा—मूढ़ संसार किस प्रकार धर्म की उपेक्षा कर अर्थ और काम में रत हो जाता है। काममञ्जरी से मरीचि ने पूछा—बाले, किस रूप में काम और अर्थ से धर्म तुम्हारी राय में विशिष्ट है? लज्जाशिथिला काममंजरी ने फिर काम की विशद व्याख्या प्रस्तुत की। धीरे-धीरे पहले से ही उसके रूप का जादू ऋषि के हृदय में घर करने लगा था, अब तो उसकी पराकाष्ठा हो गई और साधु उसके प्रेम में एकदम विक्षिप्त हो गये। तप छोड़कर उसके साथ नगर में वे जा बसे। फिर जब उन्हें होश हुआ, तब अपनी खोई विभूतियों को अपनाने के लिए वे गंगा-तट लौटे, जो अब असम्भव है। वे मरीचि मेरे सिवा अन्य नहीं। पर मुझमें न तो अब शक्ति है, न जप तप हैं।"

इस प्रकार अनातोल फ्रांस पर दशकुमारचरित का केवल प्रभाव ही नहीं पड़ा, बल्कि उन्होंने इस कथा को ही अपने 'ते' में विस्तार दिया है। उनको भारतीय विचारों का पूरा ज्ञान था, इसका प्रमाण हमें उसी 'ते' से मिल जाता है। वहाँ एक स्थल पर जब मिशनरी वेश्या के नगर की ओर जाता है, तब टाइबर नदी के किनारे बैठा हुआ उसे एक साधु मिलता है, जो उसे ज्ञान का उपदेश करता है और कहता है कि गुरु और सत्य की खोज में उसने दुनिया छान डाली, पर अन्त में उसे। वे भारतवर्ष में गंगा के तट पर एक ऋषि के रूप में मिले। सारी कथा मिल जाने के बाद 'भारतवर्ष में गंगा के तट पर' स्थित दशकुमार-चरित में वर्णित मरीचि आश्रम का आभास क्या इस 'ते' के वर्णन में नहीं मिलता ? मेरी समझ में तो टाइबर नदी-वाले ऋषि के इशारे में यह बात स्पष्ट है कि यदि मिशनरी अपने मिथ्याभिमान को छोड़, वेश्या के सुधार का प्रयास छोड़, अपने चित्त का दमन न करेगा तब उसकी परिस्थिति भी मरीचि ऋषि की सी होगी और न मानने पर उसकी वही दशा होती भी है।

राइडर हैगर्ड ने प्राच्य-सम्बन्धी बहुत-से उपन्यास लिखे हैं। फ़ारस और आफ्रिका-सम्बन्धी भी उसके बहुत-से उपन्यास प्रकाशित हैं। कई पुस्तकों में भारतीयों का भी उसने वर्णन किया है। भारतीय विचारों और साहित्य से उसकी अभिज्ञता थी, इसमें कोई संदेह नहीं। बाण की कादम्बरी का उस पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है। बाण की चित्रण-शैली को सारे योरप में केवल Mysteries of the Court of London के रचयिता रेनाल्ड्स (Reynolds) ने ही पूर्ण रूप से निबाहा है, पर हैगर्ड ने उसके कथाभाग के कतिपय स्थलों का अनुसरण किया है। उसकी 'शी' (She) की नायिका ठीक उसी प्रकार अपने प्रणयी की पुनःप्राप्ति के लिए उसकी समाधि का सेवन करती है, जैसे

कादम्बरी में महाश्वेता अपने नायक के पुनर्जन्मों की बराबर प्रतीक्षा करती है। इस प्रकार के अन्य भी कई स्थलों की समता उपलब्ध है, जिनका वर्णन फिर कभी करेंगे।

जर्मन कवि गेटे (Goethe) कालिदास के बड़े भक्त एवं शकुंतला के बड़े प्रशंसक थे। अभिज्ञान शाकुन्तल पढ़कर महाकवि गेटे ने जो उल्लासोक्ति की थी वह बड़ी सार्थक है—

"यदि तुम वसन्त की कलियाँ और उसके फलों का ह्रास देखना चाहो, यदि तुम यह जानना चाहो कि किस कारण-स्वरूप आत्माएँ आनन्दमुक्त होती हैं, यदि तुम इस पृथ्वी और स्वर्ग दोनों की एक संज्ञा चाहते हो तो मुझसे पूछो। मैं केवल एक 'शकुन्तला' का नाम तुम्हें बताऊँगा और तुम्हारे सारे प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा।"

यदि ऐसे व्यक्ति की सर्वसुन्दर कृति Faust पर कालिदास की शकुन्तला का प्रभाव पड़ जाय, तो क्या आश्चर्य है ? और इस बात को तो स्वयं योरपीय विद्वानों और गेटे ने स्वीकार किया है। इस विषय में तो किसी तर्क की आवश्यकता ही नहीं।

२

महाभारत-पूर्व का भारतीय इतिहास

भारतवर्ष का मौर्य-पूर्व इतिहास बहुत ही अन्धकार में है। भारतीय इतिहास का ठीक-ठीक क्रम, जो प्रायः असंदिग्ध है, चौथी शती ई० पू० से चलता है। अलिकसुन्दर (Alexander सिकन्दर) का भारत-आक्रमण ३२६ ई० पू० में हुआ था। बस, वहीं भारतीय इतिहास-महोदधि कुछ छिछला पड़ा है, जहाँ पाँव टिकते हैं। उसके पीछे का इतिहास अथाह है। फिर भी आधुनिक समय में कुछ प्रयास हुए हैं, और कम-से-कम नन्द और शैशुनागवंशों का इतिहास तो लगभग सुलझ गया है। उससे पूर्व के इतिहास के दो भाग किये जा सकते हैं—(१) छठी शताब्दी ई० पू० से भारत-युद्ध तक, और (२) भारत-युद्ध से पूर्व ऋग्वैदिक काल अथवा उससे भी पूर्व तक। ये दोनों काल नितान्त अंधकार-पूर्ण हैं; फिर भी इनके बीच से स्थान-स्थान पर तेजोमय आलोक कौंध जाते हैं, जिनसे उस समय की परिस्थिति भी कभी-कभी सामने आ जाती है।

ये आलोकरश्मियाँ उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण और चारों वेदों में गाई गई आख्यायिकाओं और अन्य ऐसे स्थलों में उपलब्ध हैं। इस लेख में उसी पूर्व-भारत के इतिहास के कुछ अंश देने का प्रयत्न किया जायगा। यह इतिहास अनिवार्य रूप से राजनीतिक होगा; क्योंकि अधिकतर इस शृंखला की कड़ियाँ राजकुलों के वंशवृत्त हैं, जिनमें सामाजिक अथवा सांस्कृतिक इतिहास की शोध-सामग्री बहुत कम है।

भारत-युद्ध से पूर्व के इतिहास पर कुछ लोगों ने खोज किया है, और उन्हें कुछ मार्ग सूझने भी लगा है; परन्तु अभी उसे वणिक्पथ अथवा राजमार्ग की संज्ञा नहीं दी जा सकती। राजमार्ग बनने में अभी बड़ी देर है, और उसके निर्माण में बहुतेरे श्रमिकों का सहयोग अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। जिन लोगों ने इस क्षेत्र में कुछ थोड़ा कार्य किया है, उनके अध्यवसाय का ब्योरा बड़ा है, और यद्यपि उनका सिरजा संसार अपने पैरों पर सर्वथा खड़ा नहीं हो सकता, तथापि उसमें अब शक्ति बसने लगी है। यदि अधिकाधिक विद्वानों ने उसके निर्माण में हाथ बटाया तो शीघ्र ही हमारे इतिहास का प्रारम्भिक आलोकपूर्ण पृष्ठ सुलभ हो सकेगा। जिन शोधकों ने उस सुदूर काल के इतिहास की पुनरुपलब्धि में अपनी मेधा लगाई है, उनमें श्रीपार्जीटर[१] अग्रणी हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम पुराणों की वंशतालिकाओं की छानबीन कर हमारे सामने द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० की राजनीतिक दशा के कुछ आँकड़े रक्खे। उनके बाद डा० प्रधान[२] ने इस क्षेत्र में दाशराज्ञ-युद्ध के बाद का कालक्रम स्थिर करने में अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया। डॉ० राय-चौधरी

---

[१] *Dynasties of the Kali Age* और *Ancient Indian Historical Tradition*

[२] *Chronology of Ancient India*

ने भी अपने 'प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास' में उपनिषद् और उसके पूर्व के राजाओं के सम्बन्ध में एक शृंखला निर्मित की, यद्यपि इसकी दुर्बलता कई अंशों में सिद्ध है, जैसा इन प्रारम्भिक प्रयत्नों में होना अनिवार्य ही है। इधर श्रीरंगाचार्य[1] ने भी वैदिक और पौराणिक साहित्यों के आधार पर प्राचीन राजवंशों का वर्णन किया है। हाल में ही डा० अल्तेकर[2] ने इस विषय में एक प्रामाणिक और गंभीर विवेचन किया है। इस प्रकार के दो प्रयत्न हिन्दी में भी किसी हद तक हुए हैं। मिश्रबन्धुओं ने अपने इतिहास में पार्जीटर और डॉ० प्रधान की खोजों पर विचार प्रकट किया है और लाहौर के श्रीभगवत्दत्त ने अपनी खोज में इस पूर्वकालिक इतिहास पर प्रकाश डाला है। हम यहाँ इन शोधकों की खोजों के औचित्य के विषय में विशेष न कहकर उनके सामूहिक आधार पर इस प्राचीन इतिहास का एक यथासंभव रूप रखने की चेष्टा करेंगे, जो बाद के मौर्यादिकालीन इतिहास की निम्नतम नींव होगी।

कुछ लोगों का मत है कि वेदों और पुराणों में उपलब्ध राजवंशों अथवा अन्य इस प्रकार के वंशवृत्तों का वृत्तान्त काल्पनिक और अनैतिहासिक है। उनमें से कतिपय विद्वान् रामायण और महाभारत की मुख्य घटनाओं—राम-रावण और कौरव-पाण्डव-युद्ध—की ऐतिहासिक प्रामाणिकता में भी सन्देह करते हैं। उनके विचार में ये घटनाएँ काल्पनिक हैं। परन्तु वे उस कठिन सत्य को भूलते हैं कि जहाँ वे प्रारम्भिक आर्यों की साधारण क्षमता में अविश्वास करते हैं, वहीं वे उसे एक अद्भुत मेधावी कल्पना का जनक स्थिर करते हैं, जिसका गौरव किसी

---

[1] *Vedic India.*

[2] *Presidential Address to the Archaic Section of the Indian History Congress, Calcutta.*

ऐतिहासिक घटना से कहीं महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक घटनाएँ दो पक्षविशेष के अधिकार-संघर्ष अथवा सामरिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप होती हैं, और वे मूढ़ और मतिमान् दोनों द्वारा संघटित हो सकती हैं; परन्तु अद्भुत कल्पना के साम्राज्य पर केवल उत्कट मेधावी ही शासन कर सकता है। 'मेघदूत' की कल्पना के लिए कालिदास की मेधा आवश्यक थी। प्रारम्भिक मनुष्य के लिए घटी घटनाओं का उल्लेख अधिक सरल और सम्भव है, और उनके अनस्तित्व में उनकी कल्पना नितान्त कष्टकरी। अटूट शृंखला इन राजवंशों की क्यों गढ़ी गई?—प्रश्न यह है—प्राचीन शृंखला और प्राचीन काल में? 'पुराणों' का उल्लेख, जिनमें इन राजवंशों के वृत्तान्त लिखे हैं, प्राचीनतम पुस्तकों में विद्यमान है। एक बात और विचारणीय है कि इनकी कथा अत्यन्त पूर्वकाल से कही और सुनी जाती रही है। फिर राजवंशों की ये तालिकाएँ सभी पुराणों की परिपाटी क्यों हैं? जैसे-जैसे खोज का प्रकाश तम की ओर बढ़ता है, उन राजवंशों की शृंखला की एकाध कड़ी सच्ची कैसे सिद्ध होती जाती है, और इस शृंखला का निचला छोर किस प्रकार ऐतिहासिक युगों के राजपुरुषों से आ मिलता है? फिर एक बात यह भी है कि आख़िर मनुष्य की वंश-परम्परा का आदि तो है नहीं, और आज की सन्तानों के पूर्वज किन्हीं इन शृंखलाओं के छोरों में ही जुड़ेंगे। इस बात की ही दुस्साध्य कल्पना क्यों की जाय कि एक जनसमूह ने व्यर्थ बैठकर कुछ वंश-शृंखलाएँ गढ़ लीं। इनको स्वीकार करने में आनाकानी ही क्यों की जाय, जब अधिकतर वंशक्रम विविध पुराणों में एक-से मिल जाते हैं। हाँ, जहाँ-जहाँ पुराणों में शृंखला टूट जाने के कारण, विषय की अपूर्णता से, जो अनुमान का सहारा लिया गया है, अथवा उसे जोड़ने के लिए कालक्रम में व्यक्तिविशेष को असम्भव आयु दे दी गई है,

उसे विचारपूर्वक पकड़ने की अवश्य आवश्यकता है। इस प्रकार भारत-युद्ध के पूर्व होनेवाले 'पुरु', 'यदु', 'द्रुह्यु', 'कुरु' आदि वंशों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता में सन्देह न होना चाहिए, विशेषकर जब इस विषय पर सब पुराण एकमत हैं। इन वंश-क्रमों में कितने ही असम्भावित व्यतिक्रम भी हैं, और स्वयं पुराणों ने उनकी सत्यता में सन्देह किया है। उदाहरणार्थ एक कथा लीजिए—बलराम की स्त्री राजा रेवत की पुत्री रेवती थी। परन्तु रेवत अपने जामाता से लगभग नब्बे पीढ़ी पूर्व जीवित थे। पुराणकारों ने इस विवाह की अस्वाभाविकता समझी और उन्होंने इसे एक अद्भुत रोचकता से निबाहा। विष्णु-पुराण[१] के अनुसार राजा रेवत अपनी कन्या के वर के संबंध में ब्रह्मा से परामर्श करने स्वर्गलोक पहुँचे। परन्तु वहाँ पहुँचकर वे स्वर्गीय विभूतियों में खो गये। आश्चर्यजनक सगीत के जो स्वर उन्होंने वहाँ सुने, उनके मधुर ताल-स्वरों में उन्हें अपना कार्य बिस्मृत हो गया और युगों वे वहाँ उन्हें सुनते रहे। अन्त में जब उन्हें अपने कार्य का स्मरण आया, वे ब्रह्मा से अपने भावी जामाता के विषय में परामर्श करने लगे—उस पुरुष के सम्बन्ध में, जिसे पृथ्वी पर उन्होंने अपने चित्त में बिठा लिया था। ब्रह्मा ने उनकी बात सुनकर हँसते हुए कहा—"राजन्, स्वर्गीय संगीत के माधुर्य से विभोर तुम्हें यह पता नहीं कि तुम यहाँ सदियों से पड़े हो और तुम्हारे सभी मनोनीत जामाता सदियों पहले मर चुके। तुम्हारे यहाँ पहुँचने पर दैत्यों ने द्वारका पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। हाँ, मेरी राय में अब तुम्हारी कन्या के लिए उपयुक्त वर बलराम होंगे, जो इस समय पृथ्वी पर अवतरित हैं।" इस कहानी का तात्पर्य यह है कि बलराम की पत्नी एक प्राचीन यादववंश की थी, जिस वंश का सम्बन्ध

[१] विष्णुपुराण, ४-१-२१.

किसी रेवत नाम के अत्यन्त प्राचीन पितृ राजा से था, और जो अनेक कारणों से अपना वंशवृत्त सुरक्षित न रख सका। इस शृंखला की खोई कड़ियों को छिपाने के लिए पुराणों ने रेवत के स्वर्गारोहण और उसकी अनुपस्थिति में उसकी राजधानी के विध्वंस की अद्‌भुत कथा गढ़ डाली। सो इस प्रकार के व्यतिक्रम अवश्य पुराणों में उपस्थित हैं; परन्तु इन स्खलनों के कारण हम उनकी पूरी शृंखलाओं को छोड़ नहीं सकते। कभी-कभी ऐसा अवश्य हुआ है कि किसी राजा ने अपने वंश का गौरव बढ़ाने के लिए उसे बढ़ाकर सूर्य अथवा चन्द्र से जोड़ दिया; परन्तु यह क्रम भारत-युद्ध के पूर्व की वंशस्थिति के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इनमें से अधिकतर वंशों का उल्लेख मूल के पुराणों में भी था, जो उनके अन्त के शीघ्र ही बाद लिखे गये थे। उस समय उनके वंशज भी नहीं रह गये थे, जो नई कड़ियाँ जोड़कर शृंखला पूरी कर देने में प्रयत्नशील होते। फिर जो रह भी गये होंगे, उनके सम्बन्ध में भी कोई प्रमाण नहीं, जो यह सिद्ध कर सके कि उन वंशजों को अपना यथार्थ वंशक्रम ज्ञात था। फिर इन भारत-युद्ध-पूर्व के राजाओं में से अनेक तो उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण और वेदों तक में निर्दिष्ट हैं, और इन ग्रन्थों का पौराणिक विषयों से कोई सम्बन्ध न था।

डॉ० अल्तेकर ने सत्यवान् और सावित्री, अम्बरीष और दुर्वासा, विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की कथाओं में सन्देह किया है। संभव है उनके इस सन्देह में सत्य का कुछ अंश हो, परन्तु इन व्यक्तियों की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में किया गया उनका संदेह तो नितान्त अग्राह्य है। आख्यायिकाएँ विषय के अनुसार गढ़ ली जाती हैं, और उनके अनुसार उपयुक्त पात्र भी। सम्भवतः ये व्यक्ति ऐसे ही निकलते, यदि इस विषय पर प्रकाश डालने-

वाले हमारे पास अनेक आलोकपुंजोंवाले अन्य साधन न होते। इन व्यक्तियों के नाम हमें उपलब्ध पुराणों के पूर्व के अनेक धार्मिक ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें से कइयों का निर्देश स्वयं ऋग्वेद ने किया है। विश्वामित्र तो ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के द्रष्टा हैं, और शुनःशेप के यूपबन्ध और विच्छेद की कहानी, जो उस प्रथम मानवी ग्रन्थ में मिलती है, हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र से सम्बन्ध रखती है। अन्य व्यक्तियों को भी उपनिषदों की कृतियों में हम पैठे पाते हैं। फिर एक बात और विचारणीय है। आख्यायिकाओं का जो अपार्थिव रूप धार्मिक स्तवन के सम्मिश्रण से बन गया है, वही विशेषकर उन ऐतिहासिकों को अपने वास्तविक आधिभौतिक अस्तित्व से विरक्त करता है। अर्थात् यदि उन कथाओं से अमानवी और अलौकिक वृत्तान्त निकाल लिये जायँ तो शायद वृत्तान्त को न जाननेवाले वैज्ञानिक इतिहासकार भी उन कथाओं को पूर्ण ऐतिहासिक घटना मान स्वीकार कर लें। तब केवल एक बात रह गई उन आख्यायिकाओं की अलौकिकता। परन्तु यह अलौकिकता तो आज के लेखकों के वृत्तान्त-वर्णनों में भी पूरी पनपती है। अन्तर केवल एक है—सामाजिक उपन्यास लिखनेवाले अपनी चुनी सामाजिक घटनाओं की सामूहिक सत्यता में सन्देह नहीं करते। वे समाज में होनेवाली घटनाओं का अव्यक्तिगत रूप में वर्णन करते हैं, उसके पात्रों की अवश्य वे कल्पना कर लेते हैं। उसी प्रकार प्राचीनों की पद्धति भी कुछ रही है। अन्तर केवल इतना है कि उनकी शैली कथा के विषय में ठीक उलटी रही है। यानी उन्होंने उन कथानकों के पात्र तो ऐतिहासिक चुने, अधिक परिमाण में धीरोदात्त नायक, परन्तु स्वयं कथानकों को बहुशः उनके वृत्तान्तविषयक परिस्थितियों के अनुकूल गढ़ा। यदि ऐसा न होता तो इन पात्रों में बहुधा ऐसे क्यों मिलते, जिनका उल्लेख उस प्रसंग से परे अनेक अन्य

ग्रन्थों में भी मिलता। पुराणों के इन वंशक्रमों के अतिरिक्त उनके विशिष्ट आख्यानों का एक महत्त्वपूर्ण भाव भी रहा है। इस भाव का सीधा सम्बन्ध इतिहास-दर्शन से है। इतिहास का तात्पर्य क्या है? भारतीय विचारों के अनुसार यदि ज्ञान और विज्ञान मनुष्य के हित-साधक नहीं सिद्ध होते तो वे व्यर्थ हैं। इतिहास भी उसी प्रकार मानव-अर्थसाधक है। उसे पढ़कर मनुष्य को कुमार्ग से बचना है, आदर्श जीवन-चरितों का मनन कर उनके अनुकूल ही आचरण करना है। ऐसी स्थिति में यदि उन आख्यायिकाओं का तिथियों में समय निर्धारित नहीं होता तो इतिहास से उपलब्ध होनेवाले मानवी लाभ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आज तिथियों के भर जाने से ही इतिहास, जो सर्वथा रोचक होना चाहिए था, हमारे बच्चों के लिए एक भय की वस्तु हो गया है। इतिहास अपने शुद्ध अविकृत रूप में केवल 'कहानी' है, मनुष्य की बुद्धि और मूर्खता की कहानी। आधुनिक इतिहास कहानी का रूप धारण न कर विज्ञान का बाना पहन चुका है और फलतः वह अनाकर्षक सिद्ध हो रहा है। एक बात और। इन तिथियों का कुछ अर्थ हाल के इतिहास के सम्बन्ध में तो अवश्य है, परन्तु प्राचीन घटनाओं के सम्बन्ध में उनकी सार्थकता क्या है? मान लीजिए, कोई घटना अतिप्राचीन काल में घटी। उसे आधुनिक इतिहासकार इस प्रकार कहेगा—"पचहत्तर नील पन्द्रह खरब पैंतालीस अरब पाँच करोड़ तीन वर्ष हुए, जब एक राजा अम्बरीष नाम का हुआ...।" अब इस संख्याबहुल तिथि को क्या मनुष्य का मस्तिष्क धारण कर सकता है? केवल एक अर्थ वह दृष्टि में रखकर इस कथा को समझने का प्रयास करेगा—अर्थात् बहुत दिनों की वह घटना है। सो इस तिथि-अवधि को समझने के लिए हम एक अस्पष्ट पद्धति का सहारा लेते हैं। अब ज़रा पुराणकार का चमत्कार देखें। वह जानता

है कि एक समय मानव इतिहास के सुदूर भविष्य में अवश्य आवेगा, जब तिथि-संख्या की धारणा अत्यन्त दुरूह हो जायगी, इसीलिए वह उसी प्रसंग को इस प्रकार कहेगा—"अत्यन्त प्राचीन काल की बात है, जब एक राजा अम्बरीष नाम का हुआ...।" सीधे, बिना घुमाव-फिराव के, हमने समझ लिया 'घटना पुरानी है'। आगे जानने की हमारी व्यग्रता बढ़ गई। सो मनुष्य के लाभ का विचार कर पुराणों ने कथाएँ हमारे पास रक्खीं। उसी उपादेयता को ध्यान में रख उन कथानकों को भी उन्होंने कुछ विचित्र बना दिया और उनके ऐतिहासिक पात्रों को अलौकिक कर दिया। परन्तु यह उनका दोष नहीं; आधुनिक समय में भी हम सर्वथा ऐसा ही करते हैं। जो आज अद्भुत वीर है, वह मनुष्य आगे चलकर देवता का स्थान ग्रहण कर लेता है। फिर अपने पूर्वजों को पितृ मानकर उनमें देवभाव का आधान किस जाति ने नहीं किया? सारे संस्कृतिसम्पन्न सनातनधर्मों और असभ्य जातियों के पूजनों के इतिहास में पितृ-पूजा प्रथम पग है और ये पितर पहले के समान मानवपूर्वज थे, जो बाद में देवता बन गये। इसी कारण पुराणों ने उनमें अलौकिकता का पुट दिया और उन प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरितों को हमारे पास तक पहुँचाने के लिए उन्होंने उसे वह रूप दिया, जिससे वे काल के ध्यान से समीप के भी व्यक्तियों से हमारे अधिक निकट आ पहुँचे। उदाहरणतः राम और अन्य व्यक्ति चन्द्रगुप्त मौर्य से तिथि-विचार से बहुत पूर्व के हैं; परन्तु पुराण-कारों ने उनके चरितमाहात्म्य में कुछ वे अद्भुत अनुकरणीय गुण देखे, जो चन्द्रगुप्त में सर्वथा न थे, और इसी कारण वे चन्द्रगुप्त से अधिक हमारे निकट आ पहुँचे। तिथि का एक अद्भुत लाभ इतिहासक्षेत्र में अवश्य है और वह है काल की दौड़ में पूर्व-पर के अनुसार ऐतिहासिक व्यक्तियों के क्रम को

क़ायम रखना। इसे आधुनिक विद्वान् sequence कहते हैं। सो पुराणों ने पूर्णतया सुरक्षित रक्खा है। उनकी शृंखलाओं की कड़ियाँ छिन्न-भिन्न अवश्य हो गई हैं; परन्तु अत्यन्त थोड़े वे स्थल हैं, जहाँ व्यक्तियों अथवा घटनाओं का क्रम sequence बिगड़ गया हो। इन्हीं क्रमों में ये अम्बरीष, हरिश्चन्द्र आदि राजा आते हैं और आख्यायिकाओं की अलौकिकता के कारण उपरिलिखित कारणों से वे अनैतिहासिक सिद्ध नहीं हो सकते। फिर यह भी स्मरण रखने की बात है कि इन राजाओं के साथ तालिकाओं में स्थान रखनेवाले सैकड़ों अन्य राजाओं के साथ इस प्रकार की आख्यायिकाएँ भी संबद्ध नहीं हैं। उनमें से केवल कुछ, जो शायद उन आख्यायिकाओं में वर्णित दशाविशेष के अनुकूल थे और जो शायद उस रूप में ही लोक में विख्यात थे, चुने गये। इसी कारण अन्य अनेक छूट भी गये। अतः यह स्वयं एक ऐतिहासिक आधार की ओर इंगित करता है।

बचे हुए राजाओं का सम्बन्ध नितान्त इहलौकिक अध्यवसाय और शुद्ध ऐतिहासिक घटनाओं से है, जिन घटनाओं की ऐतिहासिकता की सम्भावित प्रामाणिकता में किसी अत्यन्त सन्देहशील इतिहासकार को भी सन्देह नहीं हो सकता। इन वंशवृक्षों पर एक नज़र डालते ही यह बात स्पष्ट हो जायगी कि ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ में बननेवाले आज के पुराणों अथवा उनके आधारभूत मूलपुराण के बनाने के समय भी उनका कल्पना से प्रस्तुत करना नितान्त असम्भव था। फिर इन तालिकाओं में आनेवाले अनेक राजाओं के नाम तो उपनिषद् और ब्राह्मणकाल में भी भूल चले थे, जो समय की अनादि परम्परा के अनुकूल स्वभावसिद्ध ही है। यही कारण है कि छठी शताब्दी ई० पू० के बाद होनेवाले राजाओं में से किसी के पृथु, युवनाश्व, हर्यश्व, त्रिधन्वा, त्रय्यरुण, सगर, दिलीप, अहिनगु, व्युषिताश्व, कृतञ्जय, कूर्च,

सत्यश्रवस्, मरुत्त, उदावसु आदि के से नाम नहीं मिलते। भाषा के सुगम अधोमुख प्रवाह के कारण ही बाद के उच्चारण-सुकर नाम होने लगे। भारत-युद्ध के पूर्व के राजाओं के नाम इसी कारण कुछ अलौकिक और वेदवाक् के अनुरूप हैं, और इस कारण भी उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह न होना चाहिए। एक और विशेष उल्लेखनीय बात इस विषय में यह है कि अपना वंशगौरव बढ़ाने के लिए भारतीय इतिहास के मध्यकालीन राजपूत राजाओं ने जो कई बार अपनी वंशतालिका सूर्य अथवा चन्द्र से मिलाने के लिए प्रयत्न किये हैं, वे सदा असफल सिद्ध हुए; क्योंकि उन्होंने जो नाम गढ़े, वे संस्कृत भाषा के होते हुए भी केवल शुद्ध काव्य (classical) काल के ही रह सके और जहाँ-तहाँ उनका पड़ जाना उन असफल प्रयत्नों पर उत्कट व्यंग्य-सा प्रतीत होता है—नितान्त हास्यास्पद।

हाँ, इस सम्बन्ध में एक उचित प्रश्न हो सकता है—सम्भव है, वंशवृत्त काल्पनिक न हों; परन्तु इस बात का क्या प्रमाण है कि वे सावधानी से सँभाले गये और बाद के पुराणों में बिना हेर-फेर के रख दिये गये? साधारणतया वे ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी के इतिहास के हैं, फिर वर्तमान पुराणों में लिखे जाने के पूर्व दो हज़ार वर्षों तक वे क्योंकर अक्षुण्ण बने रह सके और रखे जा सके? परन्तु इस प्रश्न का उत्तर भी समुचित है। वर्तमान पुराण अधिकतर उपलब्ध रूप में गुप्तकाल (चौथी-पाँचवीं शती) के आरम्भ में प्रस्तुत हुए, यह सच है; परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि पुराण-साहित्य अपने प्रारम्भिक 'पंच-लक्षण' रूप में उनसे अनेक शताब्दियों पहले विद्यमान थे। इस बात का प्रमाण 'आपस्तम्ब' और 'गौतम धर्म-सूत्रों' में तो है ही, परन्तु इनसे भी पूर्व के छान्दोग्य उपनिषद्,[1] शांखायन श्रौतसूत्र,[2]

[1] ३, ४, १-२। [2] १६, २, २७।

आश्वलायन श्रौतसूत्र[1] और शतपथब्राह्मण में भी वह सुरक्षित है। शतपथ का वक्तव्य है—मध्वाहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः। स य एवं विद्वाननुशासनानि...इतिहास-पुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति[2]। इस उद्धरण से सिद्ध है कि शतपथब्राह्मण के समय इतिहास-पुराण वर्तमान थे और उस काल में भी वे 'पुराण' (पुराने) हो चुके थे। इतिहास-'पुराण' की और भी प्राचीनता अथर्ववेद के एक मन्त्र से सिद्ध होती है—इतिहासस्य च वै स पुराणस्य गाथानां नाराशंसीनां स प्रिय धाम भवति य एव वेद[3]। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं; क्योंकि पुराणों के ही प्रमाण से कहा जा सकता है कि मूलपुराण की व्याख्या द्वैपायनव्यास ने रोमहर्षण के प्रति उसी काल में की थी, जब उन्होंने 'संहिताएँ' संकलित कीं[4]। यह वायुपुराण का वक्तव्य है। वायुपुराण एक स्थल पर यह भी बताता है कि किस प्रकार वह मूलपुराण बना। उसने साफ़-साफ़ लिखा है कि वह मूलपुराण विविध वंशों की यशस्वी कीर्तियों से सम्बन्ध रखनेवाले इतिहास के आख्यानों, उपाख्यानों और गाथाओं के योग से निर्मित हुआ। सो यह आख्यान[5]

---

[1] १०, ७। [2] ११, ५, ६, ८। [3] १५, ६, १२।

[4] अस्मिन्युगे कृतो व्यासः पाराशर्यः परंतपः।
ब्रह्मणा चोदितः सोऽस्मिन्वेदं व्यस्तुं प्रचक्रमे॥
अथशिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदकारणात्।
....
इतिहासपुराणस्य वक्तारं सम्यगेव हि।
मां चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः॥ ६०, ११।

[5] आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कुलकर्मभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥ वही २१॥

और गाथाबद्ध इतिहास वैदिक काल में भी प्राप्य था, और शतपथ-ब्राह्मण[1] ने जो 'पुराण' को वेद घोषित किया है, उससे ब्राह्मण-काल में इस साहित्य की महत्ता प्रमाणित होती है। पुराण उस काल में वैदिक मन्त्रों की भाँति समादृत होते थे। इसी कारण 'पुराण' में वर्णित विषय पूरी तरह से सुरक्षित रक्खा जा सका और जिस प्रकार ब्राह्मणों ने वेद-निधि को अत्यन्त क्षमता और परिश्रम से बचा रक्खा, उसी प्रकार 'पुराण' साहित्य के प्रचार और उसकी रक्षा के लिए भी एक विशिष्ट ऋषि-परिवार पनप उठा, जिसे 'सूत' कहते थे, और जिनका काम कथा बाँचना था। दुर्भाग्यवश सूतनामधारी कथावाचकों और पुराणकारों की शृंखला टूट गई। यदि वे भी ब्राह्मणों की भाँति जीवित रहते तो वेदों की भाँति ही पुराणों की परम्परा भी सुरक्षित रहती और उनमें वर्णित कथाओं की पावनता भी ऋचाओं की नाईं बनी रहती तथा उनमें प्रक्षेप की गुञ्जायश भी न रहती।

अथर्ववेद और शतपथब्राह्मण में जिस इतिहास-पुराण का उल्लेख है, उसमें तत्कालीन और उससे भी प्राचीन वंशों के आख्यानों और कुलकर्मों का समावेश रहा होगा। जब गुप्त-कालिक वर्तमान पुराणों में क्रमागत वंशतालिकाएँ इस रूप में सुरक्षित मिलती हैं, तब अन्त्य-वैदिक काल में तो उस समय की तथा उससे भी पूर्व की तालिकाएँ और पूर्ण रूप से प्राप्य होंगी। सो सार्वजनिक सूतों का वह समुदाय वैदिक काल में पूरी तन्मयता से प्राचीन इतिहास की सामग्री से तत्कालीन ढाँचा तैयार करता था। उसे वे सूत उत्तर-कालीन सन्तानों के लिए सूत्ररूप श्लोकों में व्यक्त कर छोड़ते थे। ये श्लोक वर्तमान पुराणों में भी जहाँ-तहाँ आसानी से पढ़े जा सकते हैं। ये पुराण भारत-युद्ध के पूर्व के व्यक्तियों के सम्बन्ध में साधारणतया तो नाममात्र

[1] पुराणं वेदः सोऽयमिति किंचित्पुराणमाचक्षीत । १३, ४, ३, १३।

लिखते हैं, परन्तु जब किसी महत्त्वपूर्ण राजा का प्रसंग आ जाता है, तब वे वहाँ तक की जीवित नाराशंसी गाथाओं के अवतरण देते हैं। उदाहरणार्थ वायुपुराण को लें। इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के नाम गिनाते हुए यशस्वी मान्धाता के समीप जब पुराणकार आता है, तब कहता है—"पौराणिक ब्राह्मणों ने इस राजा के सम्बन्ध में ये दो श्लोक सम्हाल रक्खे हैं[१]।" इसी प्रकार की नाराशंसी गाथाएँ त्रिशंकु, हरिश्चन्द्र, दिलीप, अलर्क, श्यामेघ, बभ्रु, भरत और कार्तवीर्यार्जुन आदि राजाओं के विषय में भी सुरक्षित हैं। इन राजाओं की साधारण नामावली उपस्थित करते हुए भी पुराणकारों ने वैज्ञानिक मेधा से काम लिया है। इस प्रकार वायु और मत्स्य-पुराण इक्ष्वाकु राज-नामावली पर विचार करते हुए जब 'नल' नामक राजा तक पहुँचते हैं, तब उनकी धारा रुक जाती है, और वे कहते हैं—"पुराणों में दो नल विख्यात हैं—एक वीरसेन का पुत्र और दूसरा इक्ष्वाकु-वंशज[२]।" इसी प्रकार एक नाम के कई राजाओं का उल्लेख करते हुए ब्रह्मपुराण कहता है कि "सोमवंश में दो ऋक्ष और दो ही परीक्षित् हुए, तीन भीमसेन और दो जनमेजय हुए[३]।"

---

[१]अथाप्युदाहरन्तीमौ श्लोकौ पौराणिका द्विजाः।
यावत्सूर्य उदयति यावच्च प्रतितिष्ठति॥
सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते।
अत्राप्युदाहरन्तीमं श्लोकं वंशविदो जनाः।
यौवनाश्वं महात्मानं यज्वानममितौजसम्॥ ८८, ६७।

[२]नलौ द्वाविति विख्यातौ पुराणेषु दृढव्रतौ।
वीरसेनात्मजश्चैव यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्भवः॥
वायु ८८, १७४। मत्स्य १२, ५६।

[३]द्वावृक्षौ सोमवंशेऽस्मिन्द्वावेव च परीक्षितौ।
भीमसेनास्त्रयो विप्रा द्वौ चापि जनमेजयौ॥ १३, ११२।

वायुपुराण तुर्वसुवंश के मरुत्त के सम्बन्ध में भी कहता है—"अविक्षित का पुत्र राजा मरुत्त, जिसका उल्लेख ऊपर हो गया है, उस नाम के इस राजा से सर्वथा भिन्न था[१] ।" ऊपर के प्रमाणों से विदित होगा कि इन राजवंशों की तालिकाओं पर पूर्ण रूप से विचार किया जाता था और ये तालिकाएँ महाभारत-युद्ध से लगभग पचास वर्ष पूर्व ही मूलपुराण में द्वैपायन-कृष्ण द्वारा इकट्ठी कर ली गई थीं।

ये राजवंश द्रविड़ों के नहीं हो सकते। उनमें दिये गये सभी राजा आर्य और वैदिक धर्म के अनुयायी थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की द्रविड़-सभ्यता में 'अश्व' का समावेश न था; परन्तु घोड़ा आर्यों का सर्वप्रिय वाहन था। इन राजाओं में बहुतों के नाम 'अश्व'-पद से युक्त हैं, जैसे बृहदश्व, दृढ़ाश्व, हर्यश्व, युवनाश्व आदि। यज्ञमय वैदिक धर्म का भी निर्देश निम्न-लिखित नामों में मिलता है, जो क्षत्रिय हैं—कूर्च, कुश, सुहोत्र, वेणुहोत्र, वीतिहोत्र, सोमश्रवस्, सुतपा, मीढ्वा, दिवोदास, मरुत्त, सोमदत्त, देवरात आदि। पौरववंश के राजा अजमीढ़ की रानी का नाम 'धूमिनी' पड़ गया था; क्योंकि उसने बहुत-से यज्ञ किये थे, और यज्ञशाला में बराबर सोने के कारण उसका रंग भी धूमिल हो गया था[२]। इन वंश-क्रमों से यह भी ज्ञात होता है कि तब वर्णधर्म का पूर्णतया विकास नहीं हुआ था, जिस कारण निम्न वर्ण का व्यक्ति भी उच्च वर्ण में दाखिल हो

[१] अन्यस्त्वाविक्षितो राजा मरुत्तः कथितः पुरा।

९९, २; ब्रह्मपुराण, १३, १४३।

[२] हुताग्निं विधिवत्सा तु पवित्रा मितभोजना।
अग्निहोत्रकुशेष्वेव सुष्वाप मुनिसत्तमाः।
तस्यां वै धूम्रवर्णायामजमीढः समेयिवान्॥

मत्स्य, ५०, १९-२०।

सकता था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यह वंशानुक्रम अत्यन्त प्राचीन है, जब वर्णों में परस्पर परिवर्तन संभव था। कितने ही राजन्य वंशज, जैसे मान्धाता, जातूकर्ण्य, रथीतर, अरिष्टसेन, अजमीढ़, मुद्गल आदि ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए, और उन्होंने उन्नत पुरोहित-कुलों की स्थापना[१] की। इस प्रकार की घटनाओं का उल्लेख उन वंशवृत्तों में बिना प्रयास साधारणतया हुआ है। वास्तव में यह उस प्रारम्भिक वैदिक काल का समय है, जब बिना किसी संकोच के ऋषि स्वीकार करता है कि उसका पिता वैद्य था और उसका नाना पत्थर गढ़नेवाला[२]। वर्तमान पुराण ऐसे काल में रचे गये, जब इस प्रकार के आचरण असम्भव थे, और चूँकि फिर भी उन्होंने बिना किसी हेरफेर के इन कथाओं को अपनाया, यह मान लेना चाहिए कि वंशतालिकाएँ सच्ची हैं। ये भारत-युद्ध-पूर्व के वंश यथार्थ में कौरव-पाण्डवों से पहले के थे। इस विषय में सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि बहुत-से राजवंशों और ऋषियों से संपर्क रखनेवाली पौराणिक सामग्री वैदिक साहित्य

---

[१]मान्धाता के कनिष्ठ पुत्र से उत्पन्न, अम्बरीष, युवनाश्व और हारीत के सम्बन्ध में—

एते ह्यंगिरसः पुत्राः क्षत्रोपेता द्विजातयः। वायु, ८८, ७३।

जातूकर्ण्य के वंशजों के विषय में—

ततो ब्रह्मकुलं जातमग्निवेश्यायनं नृप।

भागवत, ६, २, २२।

पौरववंश के विषय में—

ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्वंशो देवर्षिसत्कृतः।
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥

वायु, ६६, २७८।

[२]कारुरहं भिषक् पिता उपलप्रक्षिणी नना।

ऋग्वेद, ६, ११२, ३।

द्वारा विशेष रूप से एक खास दायरे में बन्द सी कर दी गई है। पार्जीटर ने ब्राह्मणों की ऐतिहासिक सूझ की कमी पर कितनी ही बार अफ़सोस किया है, और बाद के विद्वानों ने उस वक्तव्य को अंगीकार कर इस भ्रमपूर्ण विचार का उल्लेख एक परिपाटी-सा बना लिया है। इसका कारण शायद यह है कि वैदिक और पौराणिक अनुश्रुतियों में संपर्क अथवा संबन्ध नहीं के बराबर है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। प्राग्भारत-युद्ध के बहुतेरे पौराणिक राजा और ऋषि वैदिक साहित्य में फिर मिल जाते हैं, और उनको पहचानना कुछ मुश्किल नहीं जँचता। इन व्यक्तियों की संख्या प्रचुर है, विशेषकर यह स्मरण रखते हुए कि वैदिक साहित्य प्रायः समकालीन राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख नहीं करता। अम्बरीष, ऋतुपर्ण, पृपध्र, बृहदुक्थ, पुरु-मिल्ह, देवातिथि और वातापी-से कुछ पौराणिक नरेश वैदिक साहित्य पर भी अपनी छाप डाल गये हैं। इनके संबन्ध में विशेष प्रमाण न मिलने के कारण हम इन्हें छोड़कर उन पौराणिक राजाओं का उल्लेख नीचे करेंगे, जो अवश्य वे ही वैदिक नृपति हैं, जिनका निर्देश पौराणिक तालिकाओं में सुरक्षित है। ऐसे राजा अनेक हैं, पर यहाँ उनमें से कुछ का ही उल्लेख किया जाता है—

१—इक्ष्वाकुवंश में मान्धाता-यौवनाश्व का स्तवन एक बड़े सम्राट् और यज्ञकर्ता के रूप में हुआ है। उसके सम्बन्ध में जो दो श्लोक प्राचीन सूतों ने सुरक्षित रक्खे हैं और जो अनेक पुराणों ने उद्धृत किये हैं, उनका उल्लेख हम पहले कर आये हैं। गोपथ-ब्राह्मण में जो कथा है, उसके अनुसार विचारिकबन्ध नामक ब्राह्मण 'मान्धाता-यौवनाश्व' नामक एक सम्राट् के पास जाकर कुछ प्रश्न करता है[१]। अवश्य यह गोपथ-ब्राह्मण का

[१] स मान्धातुर्यौवनाश्वस्य सार्वभौमस्य राज्ञः सोमं प्रभूतमाजगाम। स सदोऽनुप्रविश्य ऋत्विजं च यजमानं चामंत्रयामास। २, ६।

मान्धाता-यौवनाश्व पुराणोंवाला उपरिनिर्दिष्ट महानृपति है, पुराण बताते हैं।

२—उसी कुल में त्रिधन्वा के बेटे त्र्यरुण ने बाद में राज किया। यह त्र्यरुण अपने न्याय और दण्ड के लिए बड़ा प्रसिद्ध हुआ। पुराण बताते हैं कि उसके युवराज ने किसी अन्य की वाग्दत्ता को स्वायत्त कर लिया और त्र्यरुण ने उसे अपने राज्य से निकाल दिया[1]। पञ्चविंश-ब्राह्मण इक्ष्वाकु-वंशीय त्रिधातु के पुत्र त्र्यरुण का बखान करते हुए कहता है कि उसने अपने पुरोहित को राज्य से निकाल दिया, क्योंकि उसके रथ से एक बच्चा राजमार्ग में कुचल गया था[2]। न्याय के सम्मुख उसने अपने पुरोहित के क्रोध की परवाह न की, जिसका फल यह हुआ कि अग्नि ने लहकना बन्द कर दिया। राजा ने फिर उस पुरोहित को बुलाया, और तब उसके ऋग्वेद-मंत्र ५, २, ६ के उच्चारण करने से अग्नि तत्काल जल उठी[3]। पुराणों का त्र्यरुण निस्सन्देह पञ्चविंश-ब्राह्मणवाला त्र्यरुण है; क्योंकि दोनों के कुल और पिता एक हैं— वैदिक त्रैधात्व त्रैधन्वा का अशुद्ध पाठ जान पड़ता है।

३—इक्ष्वाकु-वंशीय राजा हिरण्यनाभ पुराणों में 'महा-योगेश्वर' और वैदिक क्रियाओं का महान् ज्ञाता कहा गया है[4]। वहीं याज्ञवल्क्य का उससे योगाध्ययन लिखा है[5]। शांखायन

[1] वायुपुराण, ८८, ७८।

[2] वृशो वै राजन्यस्य त्र्यरुणस्य त्रैधात्वस्यैक्ष्वाकस्य पुरोहित आस।
१२, ३, १२।

[3] बृहद्देवत, ५, १४–२३।

[4] हिरण्यनाभो महायोगीश्वरो जैमिनिशिष्यः। यतो याज्ञवल्क्यो योगमवाप। विष्णु, ४, ४, ४८।

[5] वही।

श्रौतसूत्र[1] में हिरण्यनाभ कौशल्य को राजा अट्णार का होता कहा है। वही हिरण्यनाभ प्रश्न-उपनिषद्[2] में सुकेश भारद्वाज से कुछ रहस्यपूर्ण प्रश्न करता है। ये तीनों हिरण्यनाभ संभवतः एक ही हैं।

४—वैशाली-वंशीय अविक्षित् का पुत्र मरुत्त प्रतापशाली सम्राट् और प्रकाण्ड यज्ञकर्ता है। उसके सम्बन्ध में नाराशंसी गाथाओं का उल्लेख है कि यज्ञों का अनुष्ठान करने और ब्राह्मणों को दान देने में कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। हिंदूकुलों और मन्दिरों में मन्त्र पुष्प के अवसर पर अब भी प्रातः-सायं उसका नाम गाया जाता है। पुराण आगे कहते हैं कि इस राजा का पुरोहित संवर्त था[3]। ऐतरेय-ब्राह्मण भी एक ऐसे मरुत्त नामक राजा का उल्लेख करता है, जो अवि-क्षित् का पुत्र था, जो सम्राट् और यज्ञकर्ता के यश से विख्यात था और जिसका पुरोहित संवर्त था[4]। निश्चय पुराणों और ऐतरेय-ब्राह्मणवाले मरुत्त एक ही व्यक्ति हैं।

---

[1] १६, ६, १३।

[2] भगवन् हिरण्यनाभः कौशल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत्। षोडशकलं भारद्वाजपुरुषं वेत्थ। ६, १।

[3] मरुत्तो नाम धर्मात्मा चक्रवर्तिसमो नृपः।
संवर्तेन दिवं नीतः समुहृत्सहबांधवैः॥ वायु, ८६, ६।
मरुत्तस्य यथा यज्ञस्तथा कस्याभवद्भुवि।
सर्वं हिरण्मयं यस्य यज्ञवस्त्वतिशोभनम्॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
मरुतः परिवेष्टारः सदस्याश्च दिवौकसः॥
विष्णु, ४, १, १७।

[4] एतेन ह वै ऐन्द्रेण महाभिषेकेण संवर्त आंगिरसो मरुत्तमा-विक्षितमभिषिषेच। ८, २१।

५—महाभारत में काशिराज प्रतर्दन की कथा वर्णित है[१]। उसके अनुसार प्रतर्दन को चेदि-राज्य के हैहयों ने हराकर काशी से भगा दिया; परन्तु महर्षि भरद्वाज की सहायता से वह राजा अपना राज्य प्राप्त करने में समर्थ हुआ। काठक संहिता के अनुसार 'अप्रतिरथ' के अनुष्ठान से शत्रु परास्त हो जाते हैं। इसके प्रमाण में प्रतर्दन का उदाहरण दिया गया है, जिसके लिए वह अनुष्ठान करके भरद्वाज ने उसका राज्य जीतकर उसे फेर दिया[२]। इससे यह सिद्ध है कि काठक का प्रतर्दन महाभारत प्रतर्दन है।

६—पुराणों के अनुसार महाभारत-युद्ध के शीघ्र-पूर्व नरिष्यन्तकुल में एक जातूकर्ण्य नाम का राजा हुआ। उसने एक ब्रह्मकुल की प्रतिष्ठा की[३]। वही जातूकर्ण्य शांखायन-आरण्यक[४] का मेधावी मुनि और क्रियाओं और अध्यात्म का पंडित है।

७—विष्णुपुराण[५] में यादववंशीय देववृध के बेटे राजा बभ्रु के विक्रम और यश का स्तवन है। यह राजा बभ्रु वही होगा, जो ऐतरेय-ब्राह्मण में देववृध का पुत्र और एक क्रिया विशेष के अनुष्ठान से प्रताप प्राप्त करनेवाला कहा गया है[६]।

---

[१] १३, ३०, २६-३०।

[२] अथैतदप्रतिरथम्। एतेन ह स्म वै भरद्वाजः। प्रतर्दनं सन्नह्यन्नभ्येति ततो ह स वै राष्ट्रमभवत्।

पञ्चविंश-ब्राह्मण (१५, ३, ७) में ये भी इस कथा का वर्णन है।

[३] ततो ब्रह्मकुलं जातमग्निश्यायनं नृप।

भागवत, ६, २, २२।

[४] २६, ५।

[५] यथैव शृणुमो दूरादपश्याम तथान्तिकात्।

बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्दैववृधः समः॥ ४, १३, ४।

[६] ७, ३४।

८—पुराणों और महाभारत में जो शकुन्तला से भरत के जन्म की कथा लिखी है, उसका उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण में भी हुआ है[1]। और पुराणों की ही भाँति यह ब्राह्मण भी भरत को अनेक अश्वमेधों का कर्ता-विजेता कहता है।

९—इसी प्रकार पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम का वर्णन शतपथ-ब्राह्मण[2] भी पुराणों ही की भाँति करता है। इस कथा का एक नाट्यरूप ऋग्वेद[3] में भी उपलब्ध है। शतपथ-ब्राह्मण से पुराणों के उस वक्तव्य[4] की भी पुष्टि होती है, जिसमें कहा गया है कि भारत-युद्ध से कुछ पीढ़ियाँ पूर्व प्रान्तविशेष का नया नाम 'पञ्चाल' रक्खा गया[5]।

१०—मत्स्यपुराण के अनुसार पौरववंश का देवापि गद्दी न पा सका; क्योंकि वह त्वचारोग से आक्रान्त था[6]। जब उसका सिंहासनाधिकार छिन गया, तब वह पुरोहित बना। उसका भाई शन्तनु उसके स्थान में राजा हुआ। शन्तनु के लिए देवापि

---

[1] शकुन्तलाऽप्सरसा भारतं दधे। १३, ५, ४, ३।

[2] ११, ५, ४।

[3] १०, ९६।

[4] पञ्चानां विद्धि पञ्चैतान् स्फीता जनपदा युताः।
अलं संरक्षणे तेषां पञ्चाला इति विश्रुताः॥
वायु, ९९, १९८।

[5] क्रिवय इति ह पुरा पञ्चालानाचक्षते।
श० ब्रा० १३, ५, ४, ७।

[6] देवापिस्तु ह्यपध्मातः प्रजाभिरभवन्मुनिः।
किलासीद्राजपुत्रस्तु कुष्ठी तं नाभ्यपूजयन्॥
५०, ३९ और ४१।

ने यज्ञ कराकर वृष्टि कराई। ऋग्वेद[1] के एक मंत्र से सिद्ध है कि देवापि शन्तनु का ऋत्विक बना और फलस्वरूप वर्षा हुई। ऋग्वेद में देवापि को आर्ष्टिषेण कहा है; परन्तु उससे उसकी पहचान में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा क्योंकि ऋष्टिषेण दिलीप का विशेषण हो सकता है। यह दिलीप पुराणों के अनुसार देवापि का पिता था। यह धारणा बृहद्देवता[2] के प्रमाण से पुष्ट हो जाती है। बृहद्देवता के अनुसार देवापि आर्ष्टिषेण शन्तनु कौरव्य का भाई था।

११—विचित्रवीर्य का बेटा धृतराष्ट्र काठकसंहिता[3] में कुरुपंचाल देश का राजा कहा गया है। यह काठकसंहितावाला धृतराष्ट्र महाभारत के दुर्योधन का पिता है, जो स्वयं विचित्रवीर्य का पुत्र था।

१२—पुराण कहते हैं कि प्राचीन काल में काशी में शुनहोत्र नामक एक राजा राज करता था। उसका छोटा बेटा गृत्समद अपने बेटे शौनक[4] के साथ एक महान् वैदिक ऋषि हुआ। यहाँ पौराणिक वृत्तान्त और वैदिक अनुश्रुति में पूर्ण साम्य है: क्योंकि ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का द्रष्टा गृत्समद है। अन्य आंतरिक प्रमाणों से भी सिद्ध है कि शुनहोत्र गृत्समद का पिता या पूर्वज था[5]।

[1] १०, ९८, ५।

[2] ७, १५५, ८, ५।

[3] १०, ६।

[4] काश्यः कुशो वीरमद इति गृत्समदादभूत।
शुनकः शौनको यस्य बह्वृचप्रवरो मुनिः॥
भागवत, ९, १७, ३।

[5] अयं हि ते शुनहोत्रेषु सोम इन्द्र त्वाया परिषिक्तो मदाय॥
२, ४१, १४।

१३—ब्रह्मपुराण के अनुसार अत्रि ने स्वर्भानु-नामक दैत्य का संहार कर विश्व को अन्धकार से मुक्त किया[१]। स्वर्भानु ने सूर्य का हनन कर दिया था। इस कहानी में अत्रि का ज्योतिर्गणना द्वारा सूर्य-ग्रहण और उसकी अवधि का जान लेना निर्दिष्ट है। इस कथा के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण ब्योरों की ओर कौशीतकी-ब्राह्मण ने संकेत किया है[२]।

१४—ऋग्वेद के अनुसार अत्रिवंश का कण्ववंश से समीप का सम्बन्ध था[३]। पुराणों की पौरववंश-तालिका से भी इस बात की पुष्टि होती है। अत्रि उस वंश के ऋचेयु के जामाता थे और कण्ववंशी राजा अजमीढ़ के केशिनी से संभूत वंशज कहे गये हैं। ऋग्वेद भी अजमीढ़ के वंशजों को पुरोहित और गायक कहता है[४]।

१५—वंशब्राह्मण के अनुसार विभाण्डक ऋष्यश्रृंग का शिष्य था। मत्स्यपुराण के अनुसार विभाण्डक आनववंशी हर्यंग का पुरोहित था[५]। यह हर्यंग ऋष्यश्रृंग से दो पीढ़ी बाद हुआ[६]।

[१]स्वर्भानुना हते सूर्ये पतमाने दिवो महीम्।
तमोऽभिभूते लोके च प्रभा येन प्रवर्तिता॥ १३, ६।

[२]स्वर्भानुर्हासुर आदित्यं तमसाऽविध्यत। तस्यात्रयस्तमोऽपजिघांसंत। २४, ३।

[३]प्रियमेधवदत्रिवजातवेदो विरूपवत।
अंगिरस्वन्महीव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥
१, ४५, ३।

४, ४४, ६।

[५]अजमीढस्य केशिन्यां कण्वः समभवत् किल।
मेधातिथिः सुतस्तस्य तस्मात् काण्वायना द्विजाः॥
मत्स्य, ४९, ४६।

[६]मत्स्य, ४८, ९८।

इन प्रमाणों से ऋष्यशृंग, विभाण्डक और हर्यंग का परस्पर संबंध स्पष्ट हो जाता है।

१६—प्रसिद्ध है, भरतों ने पुरुओं के भग्नस्तूप पर अपना सिर उठाया, और स्वयं उनके पतन पर कुरुपांचाल खड़े हुए। यह वैदिक ख्याति है। पुराणों के अनुसार पुरु पौरववंश का आदिपुरुष था और राजा भरत और कुरु बाद में क्रमशः चालीसवीं और सत्तरवीं पीढ़ी में हुए। पांचालवंश भी भरत के लगभग दस पीढ़ी बाद जन्मा। इस प्रकार वैदिक और पौराणिक प्रमाणों में ऐक्य है।

१७— पुराणों के अनुसार परीक्षित् के बेटे जनमेजय द्वितीय के रथ से ऋषि गालव का पुत्र कुचल जाने के कारण ब्रह्महत्या के दोषी हुए। उनकी प्रजा ने उन्हें छोड़ दिया। फिर जब महर्षि इन्द्रोत देवाप शौनक के अश्वमेध कराने पर वे दोषमुक्त हुए, तब उनका राज्य वापस मिला[१]। शतपथ-ब्राह्मण[२] इस कथा के वर्णन में पुराणों से पूर्णतया मिल जाता है।

१८—पुराणों के वंशवृक्ष में रोहित इक्ष्वाकुवंशीय हरिश्चन्द्र का पुत्र है। श्रीमद्भागवत में भी शुनःशेप की बलि की कथा

[१]गार्गस्य हि सुतं बालं स राजा जनमेजयः।
दुर्बुद्धिर्हिंसयामास लोहगंधो नराधिपः॥
पौरजानपदैस्त्यक्तो न लेभे शर्म कर्हिचित्।
इन्द्रोतो नाम विख्यातो योऽसौमुनिरुदारधीः॥
याजयामास चेन्द्रोतः शौनको जनमेजयम्।
अश्वमेधेन राजानं पावनार्थं द्विजोत्तमः॥

वायु, ९३, २२, २५।

[२]एतेन हैन्द्रोतो देवापः शौनको जनमेजयं पारिक्षितं याजयांचकार। तेन ह सर्वां पापकृत्यां सर्वां ब्रह्महत्यामपाजघान।

१३, ५, ४, १।

वर्णित है[१]। उस प्रसंग में विविध पुरोहितों द्वारा जो भिन्न-भिन्न यज्ञक्रियाएँ संपादित हुई थीं, उनका उल्लेख पौराणिक और वैदिक वर्णनों में समान है[२]।

१६—ऋग्वेद के प्रसिद्ध दाशराज्ञ-युद्ध का विख्यात वीर राजा सुदास पुराणों के उत्तर पांचालवंश का एक व्यक्ति है, और उसका वहाँ उल्लेख उसके वंश के अनेक व्यक्तियों, वध्र्यश्व, सृञ्जय, दिवोदास, सहदेव, सोमक इत्यादि, के साथ हुआ है। इन व्यक्तियों में परस्पर का सम्बन्ध ठीक-ठीक न पुराणों के इतिवृत्त में मिलता है न वेदों में। परन्तु दाशराज्ञ-युद्ध का निर्देश महाभारत में भी किया गया है। इसका संकेत महाभारत में उस स्थल पर मिलता है जहाँ राजा संवरण के समय के पौरववंश के अवसान का वर्णन है। महाभारत का कथन इस प्रकार है—"जब यह राजा (संवरण) राज कर रहा था, तब, सुना जाता है, बड़ा जनसंहार हुआ, और पौरवों पर विविध विपत्तियाँ आईं। पूरे राष्ट्र का क्षय हो गया। शत्रुओं की अनन्त संख्या ने भरतों पर आक्रमण किया। पांचालराज ने देश पर एक बड़ी सेना के साथ आक्रमण किया, और कुरुराज को अपने परिवार, मंत्रियों और मित्रों के साथ पश्चिम की ओर भागना पड़ा।" अन्त में पुरुओं को सिन्धु के तट पर कहीं शरण मिली, और वे वहाँ कुछ दिनों ठहरे। फिर उन्होंने वसिष्ठ से अपना पुरोहित बनने और उनके राज्य की पुनः प्राप्ति में सहायता करने की प्रार्थना की। वसिष्ठ ने स्वीकार किया। उन्होंने पुरुराज का साम्राज्याभिषेक किया और पुरु

---

[१] ६, ७, २२–२५।

[२] शांखायन श्रा० सू० १५, १७, भागवत, ६, ७, २३ (और आगे) और ऐतरेय ब्रा०, ७, १६।

अपने राज्य का पुनरुद्धार करने में समर्थ हुए[१]।

अब ज़रा विचार करें। वंशतालिकाओं से विदित होता है कि राजा संवरण को पराजित करनेवाला उसका समकालीन पांचालनृपति सुदास था। यह हम वैदिक प्रमाणों से निश्चयपूर्वक जानते हैं कि यह सुदास ही दाशराज्ञ-युद्ध का भी नायक था। वैदिक ऐतिहासिक सामग्री के अनुसार पुरु सुदास के शत्रुओं में से थे, और उन्हें परुष्णी के तट पर होनेवाले महासमर में पूर्ण रूप से पराजित किया गया। पूर्व की ओर से चलकर सुदास ने अपने शत्रुओं के विशाल संघ को छिन्न-भिन्न कर दिया, और वे नदी के उस पार पश्चिम की ओर भागे। महाभारत इस प्रमाण की पुष्टि करता है। उसके अनुसार

[१] आर्क्षे संवरणे राजन् प्रशासति वसुन्धराम् ।
संक्षयः सुमहानासीत् प्रजानामिति नः श्रुतम् ॥
व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तदा ।
अभ्यघ्नन् भरतांश्चैव सपत्नानां बलानि च ॥
चालयन् वसुधां चेमां बलेन चतुरंगिणा ।
अभ्यायत्तं च पांचाल्यो विजित्यतरसा महीम् ॥
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत् ।
ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः ॥
राजा संवरणस्तस्मादपलायत महाभयात् ।
ते प्रतीचीं पराभूताः प्रपन्ना भारता दिशम् ॥
सिंधोर्नदस्य महति निकुंजे न्यवसंस्तदा ।
अथाभ्यगच्छद् भरतान् वसिष्ठो भगवानृषिः ॥
तमासने चोपविष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा ।
पुरोहितो भवान्नोऽस्तु राज्याय प्रयतेमहि ॥
ओमित्येव वसिष्ठोऽपि भरतान् प्रत्यपद्यत ।

महाभारत (कुम्बकोणम् संस्करण), १, १०१, २३ और पश्चात्।

पुरुओं ने सिन्धु के तट पर शरण पाई। वैदिक अनुवृत्त से स्पष्ट विदित होता है कि विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों ने सुदास का पौरोहित्य किया, और बाद में उनमें से एक अलग कर दिया गया। इसका फल यह हुआ कि दोनों पुरोहित-कुलों में चिरकाल-व्यापी संघर्ष चल पड़ा। ऐतरेय ब्राह्मण का वक्तव्य[1] कि वसिष्ठ ने सुदास का अभिषेक कराया, इस बात को सिद्ध करता है कि वसिष्ठ ही सुदास के पहले पुरोहित थे, जिनको हटाकर विश्वामित्र पुरोहित बनाये गये। महाभारत का वर्णन इस प्रमाण से मिलता है, और उससे पता चलता है कि वसिष्ठ ने अपने अपमान का बदला लिया। वसिष्ठ पुरुओं के पुरोहित बने, और उनकी सहायता से सुदास के वंशजों से अपना पैतृक राज्य फिर से प्राप्त करने में पुरु सफल हुए। यह सिद्ध है कि इस प्रसंग पर ऋग्वेद और महाभारत के इतिवृत्त में विस्मय-जनक समता है।

ऊपर दी हुई तालिका में वर्णित लगभग बीस प्रसंगों पर पौराणिक और वैदिक साहित्य में अद्भुत मतैक्य है। ये प्रसंग भारत-युद्ध के पूर्व-काल के राजाओं, ऋषियों और घटनाओं के ऊपर प्रकाश डालते हैं। ऊपर दिये उदाहरणों की भाँति ही अनेक अन्य स्थल हैं, जिन पर प्रकाश पड़ना चाहिए, और जो खोज के परिश्रम को पूर्णतया सफल कर सकते हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह धारणा कि महाभारत-युद्ध के पूर्व की पौराणिक वंशतालिकाएँ वैदिक साहित्य में वर्णित तत्कालीन अथवा उससे पूर्व की ऐतिहासिक घटनाओं से कोई संबन्ध नहीं रखतीं, कितनी निर्मूल है। इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि वैदिक साहित्य का विषय मीमांसा, यज्ञ, धर्म और अध्यात्म है, और इस कारण उसमें ऐतिहासिक वार्ताओं

[1] ८, २१

का साधारणतः समावेश नहीं होना चाहिए। फिर भी, जैसा कि ऊपर प्रमाणतः दिखाया गया है, यदि इस आश्चर्यजनक अंश तक यह साहित्य पुराणों के महाभारत से पहले के वंशों से संबन्ध रखनेवाले प्रसंगों की सच्चाई को निबाहता है, तब यह मान ही लेना पड़ेगा कि पुराणों में वर्णित ये महाभारत-पूर्व राजवंश-तालिकाएँ सही और ऐतिहासिक हैं। यथार्थ में वे उसी हद तक ऐतिहासिक हैं, जिस हद तक उन्हीं पुराणों में बाद के वर्णित शैशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, शक, गुप्त आदि वंश, जिनके ऐतिह्य के संबन्ध में कोई इतिहासकार अब संदेह नहीं करता। इस कारण पुराणों द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक और सामाजिक इतिहास की सामग्री को स्वीकार करने में किसी प्रकार की आनाकानी न होनी चाहिए। हाँ, उनके वैयक्तिक महत्त्व पर अवश्य पूर्णतया ऐतिहासिक गवेषणा करनी उचित है।

नीचे की पंक्तियों में पुराणों में उपलब्ध सामग्री की सहायता से महाभारत-पूर्व के राजवंशों से सबन्ध रखनेवाले इतिहास पर प्रकाश डाला जायगा। महाभारत-युद्ध का समय शुद्ध वैज्ञानिक प्रमाणों से अगले लेख में १४०० ई० पू० सिद्ध किया गया है। यहाँ सिद्धान्ततः उसी तिथि को मानकर नीचे दी हुई शृंखला जोड़ी जायगी। श्रीयुत पार्जीटर ने अपनी अमूल्य पुस्तक[1] में प्राग्महाभारत-काल के पारस्परिक समकालीन राजवंशों की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूची दी है। इन तालिकाओं में उन्होंने प्रत्येक नृपति का उसके वंश में स्थान निश्चित किया है। इस लेख में हम राजाविशेष का समय निर्धारित करते समय उसी तालिका का निर्देश करेंगे। ऐसा न करने से प्रत्येक प्रसंग में एक पूरी पुस्तक की कथा बार-बार कहनी पड़ेगी। जहाँ

---

[1] *Ancient Indian Historical Tradition*, पृ० १४४-४६

पार्जीटर के मत से विद्वानों का मतभेद होगा, वहाँ उसका उल्लेख कर दिया जायगा।

शैशुनागवंश और उसके बाद के राजकुलों के इतिहास की गहराई में पुराणों को कुछ थाह मिलने लगती है। वहाँ उनके पाँव कुछ टिकने लगते हैं, और इसी कारण तत्कालीन राजकुलों के प्रायः प्रत्येक राजा का राज्यकाल उन्होंने दिया है। परन्तु महाभारत पूर्व के राज-वंशों के संबन्ध में ऐसी बात नहीं है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि पुराणों को गढ़ी हुई कहानी देनी अभीष्ट होती, जैसा कुछ लोगों का ख़याल है, तो वे उन क्रमागत वंशों के व्यक्ति-विशेष के राज्यकाल भी कल्पित करके लिख देते। उनका ऐतिहासिक सत्य के प्रति ऐसा उदार व्यवहार स्तुत्य है। इसका परिणाम हमारे लिए बड़ा कठिन अवश्य हो जाता है; क्योंकि तिथि-क्रम के अभाव में उस सुदूर काल का तिथ्यनुक्रम प्रस्तुत करना साधारण कार्य नहीं। ऐसी दशा में हम केवल इतना कह सकते हैं कि अमुक राजा अथवा अमुक घटना भारत-युद्ध से इतनी पीढ़ियाँ पूर्व हुई। यह समय हम प्रत्येक राज्यकाल का एक काल-परिमाण स्थिर करके निर्धारित कर सकते हैं। हमें बड़ी लम्बी वंशानुक्रमणियों पर कार्य करना पड़ेगा, जिनमें ५०-९० तक पीढ़ियाँ हैं। इस कारण हम मौर्य अथवा मुग़ल-राज्य-काल का औसत नहीं लगा सकते। हाँ, चालुक्य-वंश की पूर्वी शाखा अवश्य एक ऐसी निश्चितऐतिहासिक वंश-शृंखला है, जो समय के एक बड़े विस्तार पर दौड़ती है, और अद्भुत रूप से सुरक्षित है। इस वंश के चालीस राजाओं ने मिलकर ६५६ वर्षों तक राज्य किया है। इस आँकड़े के अनुसार प्रत्येक राज्य का औसत लगभग १६½ वर्ष ठहरता है। इस कारण प्राग्भारत-युद्ध के वंशों में प्रत्येक राज्य-काल का विस्तार पन्द्रह वर्ष मान लेना उचित होगा।

ऊपर दिये बीस राजाओं और घटनाओं के सम्बन्ध में प्रत्येक की तिथि भारत-युद्ध (१४०० ई० पू०) से अमुक पीढ़ी (प्रत्येक १५ वर्षों की) पूर्व निश्चित की जा सकती है। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि पौराणिक आधार पर खड़ी कुछ तिथि-समानान्तरताएँ (synchronisms) वैदिक प्रमाणों से भी पूर्णतया पुष्ट हो जाती हैं। नाराशंस सोमपान की अद्भुत क्षमता वर्णन करने के बाद ऐतरेय ब्राह्मण[1] कहता है कि प्राचीन काल में इसका पान पर्वत और नारद ने सहदेव के पुत्र सोमक को, सृञ्जय के पुत्र सहदेव को, देववृध के पुत्र बभ्रु को और विदर्भ के भीम और गन्धार के नग्नजित् को कराया। ऊपर के वक्तव्य से स्पष्ट है कि ये राजा समकालीन थे, और इस बात की पौराणिक प्रमाण पुष्टि करता है। उत्तर-पांचाल के वंश-क्रम में सृञ्जय, सहदेव और सोमक के नाम आते हैं। देववृध के बेटे बभ्रु का उल्लेख पार्जीटरवाली सूची में नहीं मिलता। वह प्रधान यादववंश के राजा सात्वत का पौत्र और उसके दूसरे बेटे देववृध का पुत्र था, जो इस प्रकार यादवों की एक शाखा में उपलब्ध होता है। सात्वत सृञ्जय का समकालीन था, और इसी कारण ऐतरेय ब्राह्मण में कथित यह समकालीनता पुराणों के प्रमाण से भी सिद्ध है। विदर्भ का भीम भी इन राजाओं का समकालीन था--पार्जीटर की तालिका[2] से यह स्पष्ट हो जाता है। गन्धार के नग्नजित् का नाम पुराणों की सूचियों में नहीं मिलता, इस कारण हम उसकी समकालीनता नहीं स्थिर कर सकते। ऊपर के प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वैदिक साहित्य में कही गई पाँच राजाओं की समकालीनता पौराणिक साहित्य भी कम-से-कम चार के पक्ष में स्वीकार करता

[1] ७, ३४

[2] पृ० १४३

है। पुराणों की वंश-तालिकाओं से विदित होता है कि ये राजा भारत-युद्ध से ३० पीढ़ियाँ पूर्व अर्थात् लगभग ४५० वर्ष पूर्व जीवित थे। इस प्रकार हम इन्हें युक्तिपूर्वक उन्नीसवीं शती पूर्व में कहीं रख सकते हैं। राजा सृञ्जय, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं, दाशराज्ञ-युद्ध के नायक राजा सुदास के बाद चौथी पीढ़ी में हुआ। इससे पता चलता है कि यह प्रसिद्ध युद्ध तब से लगभग ६० वर्ष पूर्व हुआ, जिसे हम क़रीब १६०० ई० पू० में रख सकते हैं। इसी प्रकार मान्धाता, त्र्यय्यरुण, हरिश्चन्द्र, प्रतर्दन आदि राजाओं का समय भी निर्धारित हो सकता है।

एक बड़े महत्त्व की बात यह है कि पौराणिक अनुवृत्त बहुत-से वैदिक ऋषियों का समय निश्चित कर देता है, जिससे ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों का काल-निर्णय भी हो जाता है। अब समय आ गया है कि इस नये साधन से उपलब्ध प्रमाणों से विद्वान् लोग वेदों के समय का निश्चय करें। वैदिक विद्वानों का इस बात पर मतैक्य है कि ऋषिकुलविशेष का अमुक ऋग्वेद-भाग अन्यों से पूर्व अथवा पश्चात् का है। पौराणिक अनुवृत्त भी इसे प्रमाणित करता है। ऊपर कहा जा चुका है कि गृत्समद, जिससे ऋग्वेद के दूसरे मण्डल में आनेवाले अनेक मन्त्रों का संरक्षक और द्रष्टाकुल प्रादुर्भूत हुआ था, स्वयं काशी के राजकुल का एक कनिष्ठ वंशधर था। वह भारत-युद्ध से लगभग ८५ पीढ़ी अथवा १२७५ वर्ष पूर्व हुआ। इससे गृत्समद का काल लगभग २७०० ई० पू० में हुआ। इसी कारण इस मण्डल के अधिकतर सूत्र २७००-२५०० ई० पू० में रचे गये होंगे।

पौराणिक अनुवृत्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद का पाँचवाँ मण्डल दूसरे मण्डल के बाद ही बना। ऊपर बताया जा चुका है कि इस पाँचवें मण्डल के रचयिता महर्षि अत्रि ने एक सूर्यग्रहण का प्राक्कथन किया था,

जिसका उल्लेख ऋग्वेद और पुराण, दोनों में हुआ है। पुराणों के अनुसार, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अत्रि पौरववंशी राजा ऋचेयु के जामाता थे। यह ऋचेयु गृत्समद से पाँच पीढ़ी बाद हुआ। इस प्रकार उसका समय लगभग २६०० ई० पू० होगा, और फलतः इस मण्डल के सूक्तों का निर्माण-काल हम २६०० ई० पू० और २४०० ई० पू० के बीच रख सकते हैं।

ऋग्वेद के चौथे मण्डल[1] से पता चलता है कि दो आर्य राजा अर्ण और चित्ररथ, एक भक्त की प्रार्थना के फलस्वरूप इन्द्र द्वारा सरयू के तट पर नष्ट किये गये। कुछ विद्वानों की राय है कि यह सरयू अवध की विख्यात नदी सरयू से भिन्न है। पौराणिक प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि यह धारणा निराधार है। पुराण अगदेश में राज्य करनेवाले अनुवंश के राजाओं में राजा चित्ररथ का उल्लेख करते हैं। उसके पिता धर्मरथ के विषय में यह कहा गया है कि उसने गया के विष्णुपाद और बाँदा ज़िले के कालिंजर पर्वत पर इन्द्र के साथ सोमपान किया[2]। इससे यह सिद्ध है कि धर्मरथ और उसका पुत्र चित्ररथ पूर्वी संयुक्तप्रान्त और बिहार के स्वामी थे, और सरयू नदी उनके राज्य से होकर बहती थी। ऋग्वेद साफ़-साफ़ कहता है कि वे आर्य थे, और पुराण सिद्ध करते हैं कि उनमें से कम-से-कम एक

---

[1]उतत्या मद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथा वधीः। ३१, १८।

[2]स वै धर्मरथः श्रीमान् येन विष्णुपदे गिरौ।
सोमः शक्रेण सह वै यज्ञे पीतो महात्मना॥
वायु, ९९, १०२।

तेन धर्मरथनाथ तदा कालञ्जरे गिरौ।
यजता सह शक्रेण सोमः पीतो महात्मना॥
ब्रह्म, १३, ३९।

का कुल वैदिक धर्मानुयायी था और वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करता था। इस प्रकार कोई कारण नहीं कि ऋग्वेद का चतुर्थ मण्डल आर्य राजाओं का कोसल में राज्य करना और परस्पर युद्ध में इन्द्र की अपार्थिव सहायता का प्राप्त करना न कह सकता हो और उसका निर्देश अकारण तोड़कर समझा जाय। ऋग्वेद की सरयू अवश्य तब वही अवधवाली प्रसिद्ध सरयू है। पुराणों के अनुसार राजा चित्ररथ भारत-युद्ध से चालीस पीढ़ी अर्थात ६०० वर्ष पूर्व हुआ। इस प्रकार उसका समय लगभग २००० ई० पू० हुआ। ऋग्वेद के चौथे मण्डल के इकतीसवें सूत्र का आठवाँ मन्त्र फिर इस तिथि से पूर्व का नहीं हो सकता; क्योंकि इस मन्त्र में चित्ररथ की मृत्यु का उल्लेख है। इस प्रकार चौथा मण्डल दूसरे और पाँचवें मण्डलों से बाद का सिद्ध हुआ। इस मण्डल में कम-से-कम दो शताब्दियों तक अवश्य मन्त्र जुड़ते गये। इस मण्डल के पन्द्रहवें सूक्त के चौथे मन्त्र में राजा सृञ्जय और सहदेव की उदारता का वर्णन है और ऊपर हम कह आये हैं कि ये दोनों राजा दाशराज्ञ-युद्ध के बाद तीसरी या चौथी पीढ़ी में हुए। इस प्रमाण से चौथे मण्डल का समय लगभग २००० ई० पू० और १८०० ई० पू० के बीच हुआ।

पुराणों के अनुसार ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ऋषि विश्वामित्र कान्यकुब्ज राजकुल के अंतिम वंशधर थे। एक ब्राह्मण-कुल का प्रादुर्भाव करने के लिए उन्होंने अपनी क्षात्रियवृत्ति छोड़ दी। वे भारत-युद्ध से करीब साठ पीढ़ी अर्थात् ९०० वर्ष पूर्व हुए। इससे उनका समय लगभग २३०० ई० पू० हुआ और इसी कारण ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का समय भी उससे पहले नहीं रक्खा जा सकता। विश्वामित्र के अनेक वंशज कई पीढ़ियों तक मंत्रों की रचना करते रहे, जिनमें से कितनों ही को उस तीसरे मण्डल में वेदव्यास ने लगभग १५०० ई० पू० में संहिता रचते समय

स्थान दिया। इनमें से कुछ सूक्त, जैसे मण्डल तीन का तेंतीसवाँ, १६०० ई० पू० से पहले के नहीं हो सकते। इस सूक्त में विश्वामित्र के एक वंशज और विपाशा और शतुद्र नदियों में एक कथोपकथन है, जिसमें दाशराज्ञ-युद्ध की एक विशेष घटना का नाट्य है। इस प्रमाण पर हम तीसरे मण्डल का निर्माण-काल २३०० ई० पू० और १६०० ई० पू० के बीच मान सकते हैं। पुराणों में वसिष्ठ-कुल के समय पर पूरा प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु यह सर्वथा मानी हुई बात है कि वसिष्ठ और विश्वामित्र के कुल समकालीन थे, और इस हेतु हम सातवें मण्डल को भी लगभग उसी काल में निर्मित मान सकते हैं।

साधारणतया इस विषय पर वैदिक विद्वानों का मतैक्य है कि आठवाँ मण्डल वंश-मण्डलों से बाद का है। पौराणिक प्रमाण से इस मत की पुष्टि होती है। वैदिक सूक्तों के अनुसार इस मण्डल का द्रष्टा कण्व, अजमीढ़ का वंशज था। पुराण वैदिक प्रमाण को सिद्ध करते हैं; क्योंकि उनका कथन है कि भारत-युद्ध से चालीस पीढ़ी पूर्व होनेवाले पौरववंशी राजा अजमीढ़ के एक कनिष्ठ पुत्र द्वारा काण्व पुरोहित-कुल का प्रादुर्भाव हुआ[1]। अतः काण्वकुल लगभग २००० ई० पू० में पनपने लगा, और इसी कारण यह कुल गृत्समद, अत्रि और विश्वामित्र से नया था। यह संभवतः वामदेव का समकालीन था। इस प्रमाण के आधार पर आठवें मण्डल का समय २००० ई० पू० और १८०० ई० पू० के बीच रक्खा जा सकता है। इसी प्रकार ऋग्वेद के विभिन्न स्तरों का निर्माण काल भी प्रायः निश्चित किया जा सकता है।

[1]अजमीढस्य केशिन्यां कण्वः समभवत किल।
मेधातिथिः सुतस्तस्य तस्मात काण्वायना द्विजाः॥
मत्स्य, ४९, ४६।

पौराणिक प्रमाण से यह सिद्ध है कि वैदिक ऋचाओं का निर्माण प्रायः २७०० ई० पू० के आसपास आरम्भ हुआ, जिसका विस्तार एक हजार वर्षों तक चलता रहा, और जो अन्त में भारत-युद्ध से चार पीढ़ी पूर्व होनेवाले वेदव्यास द्वारा संहिता-रूप में प्रस्तुत हुआ। यह घटना तब १५०० ई० पू० के लगभग रक्खी जा सकती है। ठीक तभी के हुए शन्तनु और देवापि के संबन्ध के भी कुछ मंत्र संहिता में ले लिये गये; क्योंकि ये उस राजकुल के केन्द्रीय व्यक्ति थे, जिससे स्वयं वेदव्यास का संबन्ध था। तब वह बाद का सिद्धान्त कि वैदिक सूक्तों की रक्षा में एक अक्षर अथवा स्वर का भी अन्तर न पड़ना चाहिए, प्रतिष्ठित न हुआ था। पूर्वकाल के मंत्रों की भाषा और शब्दावली बाद के मंत्रों में भी इसी कारण झलकती रही। यह भाषा-सम्बन्धी प्रभाव पौराणिक अनुवृत्त द्वारा माना गया है; क्योंकि वह कहता है कि विशिष्ट वैदिक शाखाएँ पाठ-भेद के कारण प्रादुर्भूत हुई[१]। वैदिक सूक्तों में बारंबार आनेवाली विविध शब्दावली आदि का विस्तृत अध्ययन कर ब्लूमफ़ील्ड इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वैदिक सूक्तों की संहिता एक लम्बी प्राचीन क्रियात्मिका पद्धति पर अवलंबित है, और यह स्वयं उसी पद्धति का अन्तिम प्रयास है[२]। इसी कारण वैदिक सूक्तों में हमें भाषा की वह स्पष्ट भिन्नता दृष्टि-गोचर नहीं होती, जो साधारणतया सहस्रों वर्ष की दूरी पर बने सूक्तों का संहिता में होनी अनिवार्य थी। इसी से हम यह भी समझ सकते हैं, कि बहुत बाद में बननेवाली जेन्दा-वेस्ता और पूर्व के ऋग्वेद की भाषा में आश्चर्यजनक समता

---

[१]सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वास्ता ह्यर्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा। वायु.६१,५६।

[२]*Vedic Repetition*, पृ० ६४६

क्यों लक्षित होती है। यद्यपि ऋग्वेद की प्राचीनता लगभग २७०० ई० पू० तक पहुँचती है, और गो वर्तमान संहिता के कुछ सूक्त उस तिथि के समीप निर्मित हैं, तथापि हमें उनमें भाषा की उस प्राचीनता का आभास नहीं मिलता, जो वास्तव में होना चाहिए थी; क्योंकि उनमें बाद की भाषा और व्याकरण का समावेश होता गया है।

पौराणिक अनुश्रुति से स्पष्ट है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों का समय लगभग १६०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक होना चाहिए। शतपथ अन्तिम ब्राह्मणों में से एक समझा जाता है। वैदिक और पौराणिक सम्मिलित प्रमाण से सिद्ध है कि उसका निर्माण उस युग के उत्तरार्ध में हुआ है। शतपथ के आन्तरिक प्रमाणों से ज्ञात होता कि है तुरकावषेय कुछ क्रियाओं और सिद्धान्तों के प्रवर्तक थे, जिनका वर्णन इस ब्राह्मण के ७–१० अध्यायों में आया है। दसवें अध्याय के अन्त में दी गई 'गुरुपरंपरा' की सूची में तुरकावषेय का नाम सबसे पहले आता है। उसके बाद बारह और गुरुओं का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध है कि इस ब्राह्मण में लगभग २५० वर्षों तक स्थल जोड़े जाते रहे, और अन्त में यह वर्तमान रूप में सांजीवीपुत्र के समय में प्रस्तुत हुआ। यह तुरकावषेय, जिसका उल्लेख प्राचीन गुरुओं में सर्वप्रथम है, ऐतरेय ब्राह्मण[1] और भागवत[2] के सम्मिलित प्रमाण से अर्जुन के पौत्र राजा जनमेजय का पुरोहित ठहरता है। इस कारण उसका समय लगभग १३५० ई० पू०

[1] एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण तुरः कावषेयः पारिक्षितं जनमेजयमभिषिषेच। तस्मादु जनमेजयः पारिक्षितः समन्तः सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वेन च मेध्येन ईजे। ८, २१ और देखिए, ७, ३४ और ४, २७।

[2] कावषेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधराट्। ६, २२, ३७।

होना चाहिए। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण का क्रियात्मक-काल १३५० ई० पू० और ११०० ई० पू० के बीच कहीं होना चाहिए। उद्दालक के पिता महर्षि अरुण तुरकावषेय से चार पीढ़ी यानी लगभग १०० वर्ष बाद हुए होंगे। बृहदारण्यक उपनिषद् में उसके बेटे उद्दालक और उद्दालक के शिष्य याज्ञवल्क्य का विशद वर्णन मिलता है। अतः इस उपनिषद् के आध्यात्मिक सिद्धान्त लगभग १२०० ई० पू० जा पहुँचते हैं, यद्यपि निःसन्देह इसे इसका वर्तमान रूप चालीस पीढ़ियों बाद मिला। जो बात बृहदारण्यक के संबंध में सही है, वही छान्दोग्य के विषय में भी सही होगी। अतः उपनिषदों के सिद्धान्तों का जीवन-काल लगभग १२०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच रखना होगा। सर राधाकृष्णन् ने उपनिषद्-काल का आरम्भ लगभग ११०० ई० पू०[1] में और प्रोफ़ेसर रानाडे ने लगभग १२०० ई० पू०[2] में रक्खा है। बौद्ध और जैनधर्मों में जिस आध्यात्मिक संघर्ष का निर्देश है, उसकी परम्परा को बनने में लगभग पाँच सौ वर्ष लगे होंगे—११०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक।

ऊपर दिये हुए वैदिक तिथिक्रम का किसी अन्य वैज्ञानिक प्रमाण से संघर्ष नहीं होता। हमने देख लिया कि यदि हम महाभारत-युद्ध को लगभग १४०० ई० पू० में रक्खें तो वैदिक काल का आरम्भ २७०० ई० पू० के लगभग होगा। सिन्धु काँठे की खुदाई में मिले प्रमाणों से सिद्ध होता है कि उस सभ्यता का लोप आर्यों के भारत में आने के आसपास हुआ। बहुत संभव है कि आर्यों ने ही इस प्राचीन सभ्यता का अन्त कर दिया हो। इस सभ्यता के प्रमाण पुराणों के आधार पर बनाई वैदिक तिथि-

[1] *Indian philosophy I* पृ० १२।

[2] *Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, पृ० १३।

क्रम को पुष्ट करते हैं। इति तिथिक्रम से चलने पर हमें स्पष्ट झलक जाता है कि चौदहवीं सदी ई० पू० के मित्तनी लेखों में आर्य-देवताओं का उल्लेख क्यों हुआ है। पार्जीटर ने ठीक ही कहा है कि आर्यों का मेसोपोतामिया में गमन पौराणिक अनुवृत्त से निर्दिष्ट होता है। उस अनुवृत्त के अनुसार भारतवर्ष से द्रुह्यु-वंश का लोप हो गया; क्योंकि इसके राजा उत्तर की ओर चले गये और वहाँ म्लेच्छों के देशों में राज्य करने लगे[१]। इससे इस बात की पुष्टि होगी कि कुछ आर्य-कुल भारत से मेसोपोतामिया पहुँचे, और वहाँ उन्होंने नये राज्यों की नींव डाली, आर्य-देवताओं की पूजा का प्रचार किया।

ऊपर जो आंकड़े प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे स्पष्ट हो जायगा कि उत्तर-भारत के आर्यीकरण के समय के सम्बन्ध में हमें अपने बहुतेरे विचार बदलने होंगे। यह साधारण विचार कि ब्राह्मण-काल में आर्य लोग कुरुपांचाल जनपद से बाहर नहीं गये थे, छोड़ देना होगा। पहले तो यह सिद्धान्त ही ग़लत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मण-काल में कुरुपांचाल जनपद आर्य-संस्कृति का केन्द्र था; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आर्य उनसे बाहर नहीं पहुँच सके थे; क्योंकि सांस्कृतिक केन्द्र सदा भौगोलिक केन्द्र भी नहीं रहता। इस जनपद में सरस्वती, दृषद्वती, गंगा और यमुना-सी पूत नदियों के बहने के कारण ही यह जनपद आर्यसंस्कृति और वैदिक धर्म का सदियों तक केन्द्र उस समय भी बना रहा, जब आर्य अवध, मध्यभारत और दक्षिण की ओर बढ़ गये थे। यह दक्षिणाभिमुख प्रसार २००० ई० पू० के भी पहले रखना पड़ेगा।

---

[१]प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्व एव ते।
म्लेच्छराष्ट्राधिपाः सर्वे ह्युदीचीं दिशमास्थिताः॥

वायु, ६६, १२।

ऊपर बताया जा चुका है कि आर्यों का वह पारस्परिक युद्ध, जिसमें अवध में सरयू के तट पर राजा चित्ररथ की मृत्यु हुई, लगभग २००० ई० पू० हुआ। चित्ररथ के पिता धर्मरथ ने विष्णु-पाद और कालिंजर पर्वतों पर इन्द्र के लिए यज्ञ किये। इससे सिद्ध है कि जिन आर्यों ने सरयू के तट पर आपस में युद्ध किया, वे २००० ई० पू० ही पूर्वी संयुक्तप्रान्त, और बिहार में प्रवेश कर चुके होंगे। जबलपुर के चतुर्दिक् का चेदि जनपद यादववंशावली के अनुसार इस समय से प्रायः दस पीढ़ी पूर्व ही आर्य उपनिवेश बन चुका था। यह घटना लगभग २१५० ई० पू० से बाद में नहीं रक्खी जा सकती। ऋग्वेद के आठवें मण्डल[1] में चैद्य राजा कशु की उदारता की स्तुति की गई है, और इस मण्डल का आरम्भ, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, लगभग २००० ई० पू० में ही हो चुका था। पौराणिक अनुवृत्त के अनुसार यह जनपद पहले राजा चिदि द्वारा उपनिवेश बनाया गया। यह चिदि यादवों की एक शाखा में उत्पन्न हुआ था। भारत-युद्ध से लगभग ५० पीढ़ी यानी ७५० वर्ष पूर्व। इसलिए हमें यह घटना लगभग २१५० ई० पू० में रखनी होगी। यही कारण है कि लगभग २००० ई० पू० के बाद होनेवाले वैदिक ऋषि किसी कुलविशेष के बाद में होनेवाले वंशज की उदारता की स्तुति करते हैं।

काशी के राजकुल की वंशसूची से ज्ञात होता है कि यह विख्यात नगर लगभग २६०० ई० पू० से भी पहले ही जीत लिया गया। दिवोदास के राज्यकाल के बाद जो दैत्य क्षेपक द्वारा काशी के विध्वंस की कथा मिलती है, उससे जान पड़ता है कि आर्यों का अधिकार कुछ समय के लिए काशी से उठ गया था। हमने पहले ही उल्लेख किया है कि ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार विदर्भ

[1] यथा चिच्चद्यः कशुः शतमुष्ट्राणां ददत् सहस्रदश गोनाम्। ५,३७

का राजा भीम राजा सहदेव का समकालीन था। सहदेव दाशराज्ञ-युद्ध की चार पीढ़ी बाद यानी लगभग १८५० ई० पू० में हुआ। इसलिए दक्षिण का उत्तरी भाग भीम के पूर्व ही आर्यों द्वारा जीता गया होगा। पौराणिक अनुवृत्त के अनुसार यह और भी पूर्व अर्थात् २५ पीढ़ी पहले लगभग बाईसवीं सदी ई० पू० में जीता गया।

इस प्रकार वैदिक और पौराणिक प्रमाणों के आधार पर यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि बिहार तक का सम्पूर्ण गंगा-कांठा, मध्यभारत और उत्तरी दक्षिण कम-से-कम २००० ई० पू० के पहले ही आर्यों के उपनिवेश बन गये। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि हम ऊपर बता आये हैं कि आर्य भारतवर्ष में २७०० ई० पू० के पहले ही आ गये थे। सम्भवतः उनकी निरन्तर बहती धारा ने ३००० ई० पू० और २७०० ई०पू० के बीच सिन्धु की तरहटी में जमकर बैठी उस महती द्रविड़-सभ्यता की रीढ़ तोड़ दी, जिसके भग्नावशेष हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो आदि में आज देख पड़ते हैं। इसके कुछ ही समय बाद असुरों (Assyrians) ने सुमेर की सभ्यता को ईरान में कुचल डाला और उसके भस्मावशेष पर अपने प्रचण्ड पराक्रम की नींव खड़ी की।

इसमें सन्देह नहीं कि ऊपर दिये आंकड़े में कुछ अपूर्ण हैं; परन्तु इतना तो इनसे अवश्य सिद्ध और स्पष्ट हो जाता है कि भारत-युद्ध के पूर्व की पौराणिक वंशावलियाँ ऐतिहासिक और वैदिककालीन हैं; और उनके आधार पर प्राग्भारतकालीन राज-नीतिक और सामाजिक इतिहास का निर्माण-कार्य हाथ में लिया जा सकता है। कार्य कठिन अवश्य है; परन्तु उसकी उपादेयता सिद्ध है। इस खोज के लिए हमें पुराणों और वैदिक साहित्य की ऐतिहासिक सामग्री के साथ उस नये प्रमाण-समुदाय को भी

जोड़ना पड़ेगा, जो सिन्धु-काँठे और पूर्व-मध्य एशिया की खुदाई से उपलब्ध हुआ है। अभी तक पूर्व-मध्य एशिया से प्राप्त आँकड़ों का उपयोग भारतीय इतिहास में नहीं किया गया। आगे 'भारत-युद्ध का समय' में उस मध्य-एशिया की नवीन खोज का कुछ हवाला दिया जायगा।

इस लेख में महाभारत-युद्ध का काल-निर्णय महत्त्व का है; क्योंकि उसी को लंगर मानकर आगे-पीछे चलना पड़ा है। इसलिए अब उस पर विचार करेंगे। इसी प्रकार ब्राह्मणकाल के सम्बन्ध में बृहदारण्यक और वंशब्राह्मण में दी हुई गुरु-परम्पराओं की तालिकाएँ भी महत्त्व की हैं। अतः उनका भी समावेश आगे किया जायगा।

३

महाभारत-युद्ध का समय

महाभारत की युद्ध-घटना की तिथि पर मतभेद है। कुछ विद्वानों को तो महाभारत के ऐतिह्य पर भी सन्देह है; परन्तु सौभाग्यवश ऐसे विचारों की संख्या बहुत थोड़ी है। आर्यों में परस्पर युद्ध होते थे, यह सत्य है। यह अनिवार्य भी था। भारतवर्ष में गाँव बसाकर बसने के पूर्व आर्यों का जीवन बहुत-कुछ कबीलों का-सा था। उन्होंने स्वयं अपने को 'जन' कहा भी है, जिसका सीधा निकट अर्थ 'कबीला' और अँगरेजी-अनुवाद Tribe होगा। कबीलों का आपस में लड़ना कुछ अजीब नहीं है। सो आर्य भी अधिकतर लड़ते रहते थे—अनार्यों से और परस्पर भी। स्वयं ऋग्वेद में एक विख्यात महासमर का उल्लेख है, जिसमें दस पराक्रमी राजाओं ने अपने 'जनों' के साथ भाग लिया था, और जो फलतः 'दाशराज्ञ युद्ध' कहलाया। पहले हम इस युद्ध का अनेक बार हवाला दे आये हैं। इस प्रकार के अनेक युद्ध हुए होंगे, जिनमें से कुछ का निर्देश हमें पिछले

वैदिक और पौराणिक साहित्य में मिलता है। महाभारत का युद्ध भी इसी प्रकार का, इन्हीं में से एक, था, शायद अन्तिम। महाभारत की युद्ध-घटना पर सन्देह करना और उस युद्ध का विशद वर्णन, जो हमें महाभारत के इतिहास में उपलब्ध है, कल्पना-सिद्ध मानना स्वयं एक कष्ट-कल्पना है। आज भी, जब कल्पना का साम्राज्य काव्य और कहानी-कला में अपनी चरम सीमाओं तक पहुँच चुका है, कल्पित वस्तु-कथा का आधार सर्वथा भौतिक है। तब प्राचीन काल के उस स्थूल संघर्ष को कल्पना मानना नितान्त अयुक्तियुक्त है। महाभारत की नींव एक घोर नरसंहारक घटना की शिलाभित्ति पर अवलम्बित है। इसकी सत्यता ग्रीक-महाकवि होमर के महाकाव्यों की भौतिक सत्यता से कहीं बढ़कर है। पाश्चात्य विद्वान् अभी हाल तक होमर-वर्णित उस विश्व-विख्यात ट्रोजन-युद्ध को कल्पित मानते थे। यहाँ तक कि जब उस लगनशील पुरातत्त्ववेत्ता और मेधावी श्लीमान Schliemann ने उत्साहवश, अपनी खुदाइयों में सभ्यता के एक स्तर को ट्रॉय का भग्नावशेष कहा, तब उसकी हँसी उड़ाई गई। इँगलैण्ड, फ्रांस और स्वयं उसके देश जर्मनी में उसको हास्यास्पद बनाने के लिए लम्बे-लम्बे लेख लिखे गये। परंतु जब उसके अध्यवसाय ने सचमुच ही ट्रोजन-युद्ध और ट्रॉय की सभ्यता के कितने ही स्तर ढूँढ निकाले, तब वे ही विद्वान् उसकी खोजों पर टूट पड़े और उन्हीं कल्पनाओं को वैज्ञानिक इतिहास का श्रेय मिला। अभी हाल में ही कुछ विद्वानों ने उस खुदाई में पाई गई कुछ समाधियों को ट्रोजन-युद्ध में भाग लेने-वाले एकाइल्स और अजामेम्नन-सरीखे विशिष्ट योद्धाओं की क़ब्र मानी है। भारत में उस काल में दफ़नाने की प्रथा न होने के कारण कर्ण, दुर्योधनादि की समाधियों की खोज और प्राप्ति की तो हमें आशा नहीं, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि

साहित्य के स्तरों में समाहित इस महाभारतीय युद्ध-घटना की खोज की जाय तो उसके अनेक भग्नावशेष, अनेक अस्थि-सञ्चय प्राप्त होंगे। महाभारत-युद्ध के अनेक प्रधान पुरुष, जैसे धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य (कौरवों के पिता और विचित्रवीर्य के पुत्र) आदि के नाम ब्राह्मणों और उपनिषदों में मिलते हैं। फिर इस युद्ध के विवरण और संकेत अनेक पुराणों, काव्यों और नाटकों में मिलते हैं। संस्कृत साहित्य और भारतीय अनुवृत्त महाभारत के निर्देशों से भरे पड़े हैं। उपनिषद्रूपी धेनु से दुही 'गीता' स्वयं उसी महाभारत-ग्रन्थ का एक खण्ड है, और उसके युद्ध का प्रवेशक। अतः महाभारत की घटना में सन्देह करना आज के महासमर के प्रति सन्देह करना है—नितान्त अयुक्त है। पुराणों में जो प्राचीन राजवंशों की तालिका दी हुई हैं, उसमें भी महाभारत के प्रमुख पात्रों के नाम आ जाते हैं, जो परस्पर विपक्षी हैं और विविध वंशों के हैं। महाभारत का स्थान ऋग्वैदिक आर्यों के प्रसार के अन्तिम छोर में है और यह पूरी आर्य-शृंखला के ठीक बीच में पड़ता है। इसकी घटना के बाद ही उस समय का प्रारम्भ होता है, जो साहित्य-अनुमित है। साहित्य-अनुमित काल का निम्नतम छोर तिथिपरक इतिहास के ऊर्ध्वतम छोर से प्रायः मिला रहता है। भारत के तिथिपरक इतिहास का प्रारम्भ प्रायः गौतम बुद्ध के समय छठी शताब्दी ई० पू० में है। इस प्रकार साहित्य-अनुमित काल का एक छोर ऊपर महाभारतकाल को छूता है और दूसरा छठी शती ई० पू० को।

यह बात यहाँ और भी याद रखने की है कि महाभारत-युद्ध की तिथि का ऋग्वेद के निर्माण की तिथि से घना सम्बन्ध है। स्वयं ऋग्वेद का निर्माण-काल निश्चित करने में महाभारत का काल-निश्चय अत्यन्त आवश्यक होगा। इसका मुख्य कारण

यह है कि ऋग्वेद और अन्य वेदों को संहितारूप में सम्पादित करनेवाले द्वैपायन व्यास एक महाभारतकालीन व्यक्ति हैं, यद्यपि युद्ध-काल से वे कुछ पूर्व के हैं। फिर उनके समकालीन और उसी महाभारत के शीघ्र-पूर्व के कुछ विख्यात व्यक्तियों के नाम ऋग्वेद में आते हैं। ये व्यक्ति हैं कौरव-पाण्डवों के प्रपितामह और भीष्म के पिता शन्तनु और उनके भाई देवापि। हम पहले प्रमाणित कर आये हैं कि जब देवापि को राज्य न मिल सका, तब वह अपने भाई राजा शन्तनु के पुरोहित ऋत्विक हो गये। इन्हीं शन्तनु और देवापि के नाम हमें ऋग्वेद में मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वे मन्त्र, जिनमें ये नाम आते हैं, उसके अन्तिम मन्त्रों में से हैं और समय की माप में वे महाभारत-युद्ध से लगभग पचास वर्ष पूर्व के बने हैं। अतः ऋग्वेद के अन्तिम स्तर का निर्माण-काल और सम्पूर्ण ऋग्वेद और अन्य तीन वेदों का संहिता-सम्पादन-काल प्रायः एक है, अर्थात् महाभारत-युद्ध से लगभग ५० वर्ष पूर्व। अब देखें, महाभारत-युद्ध का समय कौन-सा हो सकता है।

महाभारत-काल के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ लोगों ने इसे ३१०२ ई० पू० में रक्खा है और कुछ ने नवीं शताब्दी ई० पू० तक में। एक और तिथि १४०० ई० पू० के लगभग भी कुछ विद्वानों ने मानी है, जो प्रायः सही जान पड़ती है। अब तक जिन प्रमाणों के आधार पर इन तिथियों पर विद्वान् पहुँचे हैं, वे अधिकतर साहित्य के अध्ययन पर अवलम्बित हैं। परन्तु इधर हाल में जो मध्य-एशिया में कुछ पुरातत्त्व-सम्बन्धी खुदाई हुई है, उसका हवाला ये प्रमाण नहीं देते। प्रस्तुत लेख में उस सामग्री का भी पहली बार यथासम्भव उपयोग किया जायगा।

जिन प्रमाणों से महाभारत की तिथि ३१०२ ई० पू० के

लगभग रक्खी जाती है, उनका आधार ज्योतिष सम्बन्धी अनुवृत्त है। महाभारत में कई स्थलों पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि कलियुग का आरम्भ युद्ध के अवसर पर होगा, अथवा युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय, या श्रीकृष्ण की मृत्यु के अनन्तर। इस कारण कुछ लोगों ने महाभारत-युद्ध का काल ईसवी सन से लगभग ३००० वर्ष पूर्व रक्खा है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि कलियुग का आरम्भ होने की तिथि ३१०१ ई० पू० पहलेपहल भारतीय ज्योतिर्विद वराहमिहिर ने मानी। वराहमिहिर के पूर्व के ज्योतिर्विदों में कलियुग की इस प्रारम्भिक तिथि के सम्बन्ध में कोई अनुश्रुति नहीं, यह कम मार्के की बात नहीं है। वराहमिहिर ईसा बाद पाँचवीं शती अर्थात गुप्तकाल में हुए। इसका तात्पर्य यह है कि कलियुग का आरम्भ होने की यह तिथि अथवा महाभारत-युद्ध का समय यदि ३१०१–२ ई० पू० के लगभग मान लिया जाय तो इन तिथियों का अंकन पाँचवीं सदी ईसवी में अर्थात् घटना के प्रायः ३५०० वर्षों बाद पहलेपहल हुआ, जबकि गणक स्वयं उस तिथि से शताब्दियों नहीं, वरन् सहस्राब्दियों दूर था। क्या कारण है कि भारतीय ज्योतिषियों की अनुश्रुति में यह तिथि वराहमिहिर के पूर्व कहीं एक बार भी उल्लिखित नहीं हुई? अच्छा अब ज़रा यह देखें कि वराहमिहिर स्वयं इस तिथि पर पहुँचे किस प्रकार। उनकी गणना कितनी भ्रान्तिमूलक और दोषपूर्ण है, यह उसकी शैली से स्पष्ट हो जायगा। वह कल्पना करते हैं कि महाभारत का युद्ध अवश्य किसी ऐसे काल में हुआ होगा जब ग्रहों और नक्षत्रों की दशा अमुक रही होगी, वरना इतने प्रलयंकर संहार का परिघटन सम्भव नहीं। यह सोचकर उन्होंने अब ऐसी ग्रहदशा पर विचार करना आरम्भ किया, और गिनते-गिनते एक ऐसी ज्योतिषविषयक गणना पर पहुँचे

जो वांछनीय थी। उसका समय से मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि वह काल ३१०१–२ का रहा होगा। इस कारण महाभारत का युद्ध भी तभी हुआ होगा। अब यह स्पष्ट है कि यह गणना भ्रमपूर्ण है। प्रथम तो यही सिद्ध करना कठिन है कि महाभारत ऐसी घटना थी। यह प्रमाणित करना कठिन है कि महाभारत में इतने भी आदमी मरे थे, जितने सन १६१४ के महासमर में मरे थे, अथवा वर्तमान समर में अब तक मर चुके हैं। उस समय की जनसंख्या भी इतनी थी, इसी में सन्देह हो सकता है; क्योंकि इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि अकबर के समय की मरदुमशुमारी में, जब साधारण अनुमान से प्राचीन काल से कहीं जनसंख्या बढ़ चुकी थी, वह कुल सोलह करोड़ के लगभग थी। फिर यदि उसे मान भी लें, तो एक अजीब अन्योन्याश्रय दोष का सामना करना पड़ता है। तर्क में यह एक त्याज्य दोष है। किसी बात को प्रमाणित करने के लिए कल्पना की जाती है, की जा सकती है; परन्तु तब जब वह बात प्रमाणित हो जाती है, अथवा उसे अन्य प्रमाणों से सिद्ध करना पड़ता है। आरम्भ में ही वराहमिहिर 'हेत्वाभास'-सा करते हुए घोड़े के सामने उसके खींचने की गाड़ी रख देते हैं। वे कहते हैं कि ऐसे महत्व की घटना होने के लिए अमुक ग्रहदशा अनिवार्य है। पहले तो यह विचार शुद्ध वैज्ञानिक गणित अथवा गणित ज्योतिष का नहीं, वरन फलित ज्योतिष का है, जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता, फिर यही कैसे प्रमाणित माना जाय कि महाभारत की घटना के लिए अमुक ग्रहदशा आवश्यक थी। प्रकृति के नियमों में अपवाद नहीं हो सकता। यदि उनमें एक भी अपवाद हो जाय तो उसे प्राकृतिक नियम नहीं मान सकते। उदाहरणतः यदि किसी दिन सूर्य न निकले अथवा पश्चिम में निकल आवे तो 'सूर्य नित्य उदय होता है' या 'सूर्य

पूर्व में उदय होता है' ये वाक्य प्राकृत नियम नहीं माने जा सकते। इसी प्रकार यदि जीवों के अवश्य मरण में एक भी अपवाद हो जाय तो मृत्यु एक प्राकृतिक सत्य नहीं मानी जा सकती। यदि ऐसा है तो वर्तमान महासमर भी, जिसकी संहारकता और जिसका विस्तार महाभारत से कहीं बढ़कर है, किसी ग्रहदशा विशेष का फल होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है, न किसी वैज्ञानिक ने ऐसा सोचा ही। सो यह कल्पना कि महाभारत की युद्ध-घटना किसी ग्रहदशा विशेष के फलस्वरूप हुई होगी, अत्यन्त दोषयुक्त है। फिर इस भ्रमभित्ति पर अपना आधार रखनेवाला निश्चय स्वयं भ्रमपूर्ण क्यों न होगा? इस प्रकार इस विश्वास का उत्तरभाग अर्थात् उस दशा की गणना नितान्त अयुक्तियुक्त होगी। अतः ३१०२ ई० पू० महाभारत की तिथि नहीं हो सकती। यहाँ यह कह देना उपादेय होगा कि पुराण एक स्वर से परीक्षित् और नन्द के राज्यारोहण में केवल एक सहस्र वर्षों का अन्तर मानते हैं, जिसके अनुसार यह युद्ध लगभग १४०० ई० पू० के आसपास होना चाहिए; क्योंकि नन्द का समय चौथी शताब्दी ई० पू० सब प्रमाणों से निश्चित और सर्वमान्य है। कोई कारण नहीं कि पुराणों के इस वक्तव्य को हटाकर वह भ्रममूलक ३१०२ ई० पू० वाला सिद्धान्त माना जाय, जब पुराण हमारी ऐतिहासिक अनुश्रुतियों के रक्षक और आकर हैं। इतिहास की पौराणिक धारा अवश्यमेव ग्राह्य होनी चाहिए: क्योंकि प्राचीन भारतीय इतिहास के वे एकमात्र संकलन हैं; जो स्वयं एक मूलपुराण पर अवलम्बित हैं और जिनका निर्देश स्वयं अथर्ववेद[1] में हुआ है।

---

[1] इतिहासस्य च वै स पुराणस्य गाथानां नाराशंसीनां स प्रियं धाम भवति य एवं वेद।

अथर्ववेद, १५, ६, १२।

इसी प्रकार महाभारत में युद्ध अथवा उससे संबद्ध अन्य घटनाओं के सम्बन्ध में आये नक्षत्रों और ग्रहों के स्थानादि ज्योतिषविषयक सामग्री द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से भी इस युद्ध का समय निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु जो लोग इस प्रकार की राय कायम करते हैं, उन्हें यह बात न भूलनी चाहिए कि इस मत पर उनके अनुकूल विचार करने के लिए वर्तमान महाभारत के पाठ स्थिर करना अनिवार्य होगा। फिर एक बात इसके अतिरिक्त यह भी महत्व की है कि प्रस्तुत महाभारत की इस सम्बन्ध की सामग्री परस्पर अत्यन्त विरोधी है, और उस पर विचार करने के पूर्व हमें कुछ को तो प्रक्षिप्त, कुछ को अतिरंजित आदि कहकर त्याग देना पड़ेगा। इस प्रकार की सामग्री पर मतनिर्धारण नितान्त असन्तोषजनक है।

इसलिए इन कल्पनाओं को छोड़ हमें महाभारत का समय निश्चित करने के लिए अन्य अपेक्षाकृत विश्वस्त प्रमाणों का सहारा लेना पड़ेगा। वैदिक साहित्य में वर्णित गुरुपरम्परा और वंशावलियों से प्रादुर्भूत और महाभारत-युद्ध के पश्चात् और शैशुनाग वंश के पूर्व होनेवाले राजाओं के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री पर विचार करने से एक विशिष्ट मार्ग सूझेगा, जिससे चलकर महाभारत की तिथि तक पहुँचना कुछ सुकर होगा। उनमें से पहलेवाला, यानी वैदिक साहित्य की गुरुवंशावली का आधार लेकर श्रीराय-चौधरी ने महाभारत का काल ईसापूर्व नवीं शताब्दी के मध्य में रखा[1] है। परन्तु इस तिथि के सम्बन्ध में जिन प्रमाणों का विशेष कर सहारा लिया गया है, वे ये हैं—

१—गौतमबुद्ध के समकालीन व्यक्तियों में आश्वलायन

---

१ एच० सी० राय चौधरी। *Political History of Ancient India*, चतुर्थ संस्करण, पृ० २७-२९।

और शांखायन गृह्यसूत्रों के रचयिता थे। इस कारण उनका समय प्रायः ५५० ई० पू० हुआ।

२—गृह्यसूत्र के रचयिता शांखायन और शांखायन आरण्यक के रचयिता गुणाख्य शांखायन संभवतः एक ही व्यक्ति हैं। यह गुणाख्य शांखायन कहोल कौषीतकि का शिष्य था। इस कारण उसका समय भी लगभग ५५० ई० पू० के हुआ।

३ यदि ये दोनों ग्रन्थकार एक व्यक्ति न भी हुए तो भी कम-से-कम गुणाख्य छठी शती ई० पू० से पहले का नहीं हो सकता; क्योंकि उसने अपने आरण्यक में लौहित्य और पौष्कर आदि का उल्लेख किया है, और ये दोनों बुद्ध के समकालीन थे।

४—शांखायन आरण्यक से पता चलता है कि गुणाख्य का गुरु कहोल कौषीतकि स्वयं उद्दालक आरुणि का शिष्य था। यह उद्दालक राजा जनमेजय के पुरोहित तुरकावषेय से आठवीं पीढ़ी पीछे हुआ—ऐसा शतपथ ब्राह्मण की वंशतालिका से विदित होता है। इस प्रकार परीक्षित् बुद्ध के समय से केवल नौ पीढ़ी पूर्व ठहरता है। अतः महाभारत-युद्ध का काल नवीं शती ई० पू० का मध्य होना चाहिए।

ऊपर के प्रमाण सम्भवतः सिद्ध मान लिये जा सकते थे, यदि नम्बर २ और ३ में दिये गये प्रमाणों की कल्पनाएँ विवादास्पद न होकर सिद्ध हो सकतीं। यह अत्यन्त संदिग्ध है कि आरण्यक और गृह्यसूत्र के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता। एक के रचयिता का नाम गुणाख्य और दूसरे ग्रन्थकार का नाम सुयज्ञ है। फिर बुद्ध के समकालीन लौहित्य और पौष्करशादि का, आरण्यक में आये उन्हीं नामों के व्यक्तियों के साथ, एकीकरण भी अत्यन्त सन्देहयुक्त है। यह बात याद रखने की है कि ये नाम व्यक्तिवाचक नहीं, कुलवाचक अथवा उपाधिवाचक हैं, और सम्भव है,

इनका प्रयोग उन व्यक्तियों तक ने किया हो, जो समय की गणना में परस्पर शताब्दियों दूरस्थ है। जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण की वंशतालिका से विदित होता है कि लौहित्य नामक उपाधि के कम-से-कम बारह व्यक्ति हुए[1]। इस कारण यह स्थिर करने के लिए कि नवीं शताब्दि ई० पू० में महाभारत-युद्ध हुआ, इन प्रमाणों से अधिक महत्वपूर्ण प्रमाणों की आवश्यकता होगी।

पार्जीटर ने महाभारत-युद्ध का काल दसवीं शती ई० पू० में माना है। मिश्रबन्धु भी लगभग इसी समय को मानते हैं। पार्जीटर का सिद्धान्त जिन प्रमाणों पर अवलम्बित है, उनका सम्बन्ध है जनमेजय द्वितीय के प्रपौत्र अधिसीमकृष्ण और राजा नन्द के राज्यारोहण के बीच राज्य करनेवाले पौराणिक इतिवृत्त में वर्णित अनेक राजवंशों के राजाओं की संख्या पर निर्भर करनेवाली गणना से। पार्जीटर का विचार है कि इन दोनों घटनाओं के बीच छब्बीस राज्यकालों का अन्तर है। प्रत्येक राज्यकाल को १८ वर्षों का औसत देने से अधिसीम-कृष्ण का समय लगभग ८५० ई० पू० में और पाण्डवों का एक शती और पूर्व ठहरता है।

यह सिद्धान्त भी पूर्णतया शुद्ध नहीं है; क्योंकि पौराणिक सामग्री स्वयं स्पष्ट और नितान्त शुद्ध नहीं। यह बात पूरी-पूरी असन्दिग्ध नहीं कि पुराणों का यह निर्विवाद सच्चा भाव है कि पूर्ववर्ती समकालीन वंश (जिनका उल्लेख पुराण करते हैं) अधिसीमकृष्ण और नन्द के सारे अन्तर में केवल स्वयं फैले रहे, और अन्य अनुल्लिखित राजाओं ने उस काल में राज नहीं किया। पुराण कहते हैं—

[1] *Ancient Indian Historical Tradition*, पृष्ठ १८२।

शतानि त्रीणि वर्षाणि षष्टि वर्ष शतानि तु ।
शिशुनागा भविष्यन्ति राजानः क्षत्रबन्धवः ॥
एतैः सार्धं भविष्यन्ति तावत्कालं नृपाः परे ।
तुल्यकालं भविष्यन्ति सर्वे ह्येते महीक्षिताः ॥[१]

इस संदर्भ से स्पष्ट है कि 'एतैः सार्धम्' पद का सम्बन्ध पूर्व श्लोक में आनेवाले शिशुनागों से है। अतः इस कथन के बाद आनेवाले विविध वंश शिशुनागों के ही समकालीन होंगे, और स्पष्टतया फिर उनका राज्यकाल अधिसीमकृष्ण और नन्द के बीच के अन्तर को न भर सकेगा। परन्तु स्वयं यह निष्कर्ष भी शुद्ध नहीं; क्योंकि समकालीन वंशों में ही अधिसीमकृष्ण के २४ पौरवंशजों का उल्लेख हुआ है, जिनमें से कम से कम कुछ तो अवश्य ही शिशुनागों के पूर्ववर्ती रहे होंगे। इस प्रकार भारत-युद्ध के अनन्तर के वंशों के सम्बन्ध में पौराणिक इतिवृत्त कुछ उलझा-सा मालूम होता है। इसी कारण उस बीच की राज्य-काल-संख्या भी शुद्ध नहीं प्रतीत होती। अतः इनके ऊपर निर्भर करते हुए भी हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते[२]।

पौराणिक सूत महाभारत-युद्ध के बादवाले राजकुलों के सम्बन्ध में सही-सही वृत्तान्त तो नहीं याद रख सके, फिर भी वे उस युद्ध की तिथि न भूले। पुराणों का वक्तव्य है कि परीक्षित् के जन्म और राजा नन्द के राज्यारोहण के बीच एक हज़ार पचास वर्षों का अन्तर है। यह पौराणिक अनुश्रुति, जो कई

---

[१]पार्जीटर *Dynasties of the Kali Age* पृ० २२-२३।

[२]महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परीक्षितः।
एवं वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम् ॥
पुलोमास्तु तथान्ध्रस्तु महापद्मान्तरे पुनः।
अन्तरं तच्छतान्यष्टौ षट्त्रिंशत्तु समास्तथा ॥ वही, पृ० ५८।

पुराणों में मिलती है, सच्ची है, और इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं। न इसके विरोध में किसी ऐतिहासिक सिद्धान्त को ही क्षति पहुँचती है। यह भी सच है कि पुराण शीघ्र ही बाद जो राजा नन्द और अन्ध्रवंशीय राजा पुलोमा के अन्तर की बात कहते हैं, वह अशुद्ध है; परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात न भूलनी चाहिए कि अनुश्रुति किसी विख्यात घटना के सम्बन्ध में सही हो सकती है, किन्तु वही किसी अन्य अप्रसिद्ध घटना के सम्बन्ध में ग़लत। उदाहरणतः दूर के कैण्टन में चीनी लोग बुद्ध के निर्वाण की तिथि ६७५ वर्षों तक प्रायः सही-सही सुरक्षित रख सके, फिर क्या कारण है कि भारतीय पौराणिक सूत स्वदेश में ही एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना की तिथि-सम्बन्धी अनुश्रुति ठीक-ठीक एक सहस्र वर्ष भी सुरक्षित न रख सके हों? अतः युक्तितः उनकी यह अनुश्रुति सही जान पड़ती है।

वैदिक साहित्य में सुरक्षित गुरु-शिष्य वंशावली से सिद्ध हो जाता है कि महाभारत का युद्ध लगभग १४०० ई० पू० में हुआ। पौराणिक अनुश्रुति भी यही कहती है। ये वंशतालिकाएँ वस्तुतः ब्राह्मणों और उपनिषदों के विशिष्ट भाग हैं, और यह बात बराबर स्मरण रखने की है कि ब्राह्मणों और उपनिषदों का साहित्य भी श्रुतिपरक समझा जाकर बड़ी तन्मयता, लगन और परिश्रम से सुरक्षित रक्खा गया। गुरुपरम्पराओं में आये नाम कल्पित नहीं हो सकते, यह इस बात से बड़ी सरलता से सिद्ध हो जाता है कि इनमें से अनेक नाम अनेक बार ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और सूत्रग्रन्थों में भी मिलते हैं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण के दसवें खण्ड में आये तेरह मानवगुरुओं में से सात का तो उसी ग्रन्थ में अनेकबार उल्लेख हुआ है, और आठवें का नाम मैत्रायणीय संहिता में आया है। फिर शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् के कालान्तर में होनेवाले गुरुओं में से अनेक

के नाम माध्यन्दिन और काण्व, दोनों शाखाओं में कुछ अन्तर के साथ मिल जाते हैं। वंशब्राह्मण में ५३ मानवगुरुओं का उल्लेख है। इनमें से प्रायः बीस के नाम अथवा पैतृक उपाधि और गोत्रनाम शतपथब्राह्मण, पञ्चविंशब्राह्मण, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, छान्दोग्य उपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद्, शांखायन श्रौतसूत्र और लाट्यायन श्रौतसूत्र आदि में उल्लिखित हैं। इस कारण इस वंशतालिका को हमें प्रायः शुद्ध मानना ही पड़ेगा। यदि यह गुरुपरम्परा उन ग्रन्थकारों को बहुत प्राचीन समय तक ले जाना अभीष्ट होता तो, जैसा साधारणतः उन दिनों हुआ करता था, वे इस परम्परा के आदि में कुछ देवताओं के नाम जोड़ देते। ऐसी अवस्थाओं में साधारणतः यही पद्धति थी और यही सुकर भी था। उस परम्परा के बीच कुछ मिथ्या नाम गढ़कर क्यों डाले जाते ? यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह वंश-परम्परा समकालीन और उत्तरकाल के गुरुओं के नाम जोड़कर काफ़ी लम्बी कर दी गई है। सम्भव है, इस प्रकार की उलझन जब-तब, परन्तु अत्यन्त थोड़े अवसरों पर हो गई हो; परन्तु अवश्य ऐसे प्रसंगों की संख्या अत्यल्प है। इसका विशेष कारण यह था कि इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि समकालीन कहीं उत्तरकालीनों के रूप में उल्लिखित न हो जायँ। यह बात आगे दिये हुए हमारे परिशिष्टों से साफ़ सिद्ध हो जायगी। परिशिष्ट 'क' की ३७वीं पीढ़ी और परिशिष्ट 'ख' की २६वीं और ३३वीं पीढ़ियों में हमें समकालीन गुरुभाई शिष्यों के नाम कोष्ठों में दिये से मिलते हैं। इस प्रकार यह मानना ही पड़ेगा कि गुरुशिष्यों की ये तालिकाएँ साधारणतया मौलिक, शुद्ध और विश्वस्त हैं। हाँ, कहीं-कहीं प्राचीनता घोषित करने के लिए अवश्य कुछ देवताओं के नाम जोड़ दिये गये हैं। परन्तु चूँकि ये नाम सदा

तालिकाओं के आरम्भ में आये हैं, इस कारण उस तालिका की मानवपरम्परा के नामांकों के सम्बन्ध में कोई दिक़्क़त नहीं होती, और इन मानव-गुरुशिष्यों के नामों को अंगीकार करने में किसी प्रकार की वैज्ञानिक अड़चन नहीं पड़ती। इन्हें स्वीकार करने में आनाकानी नहीं होनी चाहिए।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में जो तालिका दी हुई है, उसमें ४७ गुरुओं के नाम दिये गये हैं, जिनमें से पहले और दूसरे देवताओं के हैं। इस तालिका में तीसरा नाम यानी प्रथम मानवगुरु का नाम तुरकावषेय है। इस प्रकार वह बृहदारण्यक उपनिषद् के समय से ४५ पीढ़ी या कम-से-कम४०पीढ़ी पूर्व है यह उपनिषद् साधारणतया प्राग्बौद्धकालीन समझा जाता है, इस कारण यह प्राय: ५५० ई० पू० से बाद का किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। गुरुशिष्यपरम्परा की एक पीढ़ी लगभग २० वर्षों से कुछ ऊपर ही ठहरती है। अतः तुरकावषेय ५५० ई० पू० से लगभग ८०० वर्ष पूर्व रहे होंगे; अर्थात् उनका समय रहा होगा क़रीब-क़रीब चौदहवीं सदी ई० पू० का मध्यकाल। वैदिक और पौराणिक, दोनों अनुश्रुतियों में केवल एक ही तुरकावषेय का हवाला है। वे किसी अन्य को नहीं जानते। ऐतरेय ब्राह्मण और भागवत की राय इस सम्बन्ध में सर्वथा एक है कि तुरकावषेय अर्जुन के पौत्र जनमेजय के पुरोहितों में से एक थे। इस प्रकार यदि जनमेजय और तुरकावषेय का समय चौदहवीं शती ई० पू० का मध्यकाल ठहरता है तो महाभारत-युद्ध की तिथि लगभग १४०० ई० पू० के सिद्ध हुई। ठीक इसी तिथि के अनुकूल पौराणिक अनुश्रुति है, जो हम ऊपर कह आये हैं।

इस तिथि की ओर एक और प्रमाण संकेत करता है। शतपथब्राह्मण[1] के अनुसार जनमेजय का एक अन्य पुरोहित

[1] १३, ५, ३, ५।

इन्द्रोत शौनक था। इसी प्रकार इस इन्द्रोत शौनक का पुत्र दृति ऐन्द्रोत शौनक उसी जनमेजय के भतीजे अभिप्रतारिन् काक्षसेनि का पुरोहित था[१]। अब ये दोनों गुरुवंश ब्राह्मण और जैमिनि-उपनिषद्-ब्राह्मण[२] में दी वंशतालिकाओं में अंकित हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ उन्हें ४०-४० पीढ़ी अपने समय से पूर्व रखते हैं, और स्वयं इनका समय लगभग ५५० ई० पू० से बाद नहीं हो सकता। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि जनमेजय द्वितीय का समय १३५० ई० पू० के लगभग है, और महाभारत-युद्ध का प्रायः १४०० ई० पू० में।

इस प्रकार यदि तीन स्वतंत्र वंशतालिकाओं के अनुसार, जो श्रुतिपरक साहित्य में धार्मिक रूप से पूर्णतया सुरक्षित हैं, महाभारत-युद्ध का समय युक्तितः लगभग १४०० ई० पू० के सिद्ध होता है, तो हमें वह पौराणिक अनुश्रुति मानने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए, जो साफ़-साफ़ कहती है कि परीक्षित् के जन्म और राजा नन्द के राज्यारोहण का अन्तर-काल १०५० वर्षों का है। इस कारण १४०० ई० पू० के समीप ही महाभारत-युद्ध का समय मानना उचित जँचता है।

यह तो हुई साहित्य के आधार पर इस विषय की चर्चा, अब ज़रा एशिया माइनर और पूर्व मध्यएशिया की पुरातत्त्व-संबन्धी खुदाइयों में उपलब्ध सामग्री पर भी कुछ विचार किया जाय। यह सामग्री भी एक अन्य दृष्टिकोण से महाभारत-काल पर प्रकाश डालती है; और वैसे ही सिन्धु तलहटी की खुदाई की सभ्यता भी। इनका प्रकाश सीधा महाभारत की तिथि पर तो नहीं पड़ता, परन्तु ऋग्वेद के निर्माणकाल पर अवश्य पड़ता है, और जैसा आरम्भ में ही कहा जा चुका है, महाभारत के

[१]पञ्चविंश ब्राह्मण, १४, १, १२, १५।

[२]३, ४०-४१।

घटना-काल और ऋग्वेद के निर्माण और संपादनकाल में एक घना संबन्ध स्थापित हो गया है; क्योंकि वेदों के संहिताकार व्यास महाभारत-युद्ध के शीघ्र-पूर्व के एक व्यक्ति थे, और ऋग्वेद के अंतिम मंत्रों में आनेवाले राजा शन्तनु और उसके पुरोहित-भाई देवापि के समकालीन। इस प्रकार ऋग्वेद के अन्तिम स्तरों का निर्माणकाल महाभारत-युद्ध के शीघ्र पूर्व ही ठहरता है, लगभग ५० वर्ष पूर्व ही; क्योंकि शन्तनु कौरव-पाण्डवों के प्रपितामह थे, और पाण्डु-धृतराष्ट्र के पितामह, तथा देवव्रत-भीष्म के पिता।

ऊर, कीश, अशुर आदि स्थलों पर जो मध्यएशिया में खुदाई हुई है, उससे पता चलता है कि ४००० ई० पू० से ३००० ई० पू० और बाद तक ईरान के ऊर आदि स्थलों पर सुमेर-सभ्यता का राज्य था। यह सुमेर-सभ्यता बहुतेरी बातों में सिन्धु तलहटी के मोहनजोदड़ो आदि की द्रविड़-सभ्यता से मिलती-जुलती और उसकी ऋणी थी। लगभग ३००० ई० पू० के बाद असुरों ने सुमेर पर आक्रमण करके सुमेर-सभ्यता की कमर तोड़ दी, और उनके भग्नावशेष पर असुर-सभ्यता फैली। लगभग इसी समय एक प्रबल जाति ने इस द्रविड़-सभ्यता की रीढ़ तोड़ दी और उसे तहस-नहस कर डाला। यह नई जाति कौन थी? हमारा विश्वास है कि यह आक्रमणकारी आर्यजाति थी। सर जान मार्शल ने जो मोहन-जोदड़ो के भग्नावशेष की तसवीरें छापी हैं, उनमें कितनी ही मकानों के निचले हिस्सों की है। इनमें से कई कमरे पुरुषों के अस्थिपञ्जरों से भरे पड़े हैं। ये अस्थिपञ्जर एक-से और एक ही क़द के हैं। अनुमानतः किसी प्रबल आक्रमण से भागकर इन्होंने अपने नीचे के कमरों में शरण ली। परन्तु आक्रमणकारियों ने इन्हें वहाँ भी न छोड़ा, और नीचे के कमरों में उतरकर इन्हें काट डाला। इसी कारण ये अस्थिपञ्जर किसी तीक्ष्ण धारदार

अस्त्र से कटे हुए हैं। चारों ओर ऐसे ही कटे हाथ-पाँव, मस्तक आदि फैले हैं, और वे कई कमरों में। इन्हीं कटे अस्थिपञ्जरों में एक बहुत ही ऊँचे क़द का है। सम्भव है, यह अस्थिपञ्जर किसी ऊँचे क़दवाले आर्य का हो, जिसे आत्मरक्षा में लड़ते हुए द्रविड़ों ने मार डाला हो। यह अस्थिपञ्जर पास खड़े एक जीवित पंजाबी क़ुली से भी ऊँचा प्रतीत होता है। एक बात और। ऋग्वेद में किसी शत्रु जाति को 'दास', 'दस्यु' और 'अनासा' और 'शिश्नदेवाः' कहा गया है। उनके नाश के अर्थ इन्द्रादि से प्रार्थना की गई है। उनके 'लौहदुर्गों' का इन्द्र विध्वंस करता है। ये 'दास', 'दस्यु' और 'अनास' चिपटी नाकवाले द्रविड़ ही हो सकते हैं। वहीं उस समय शिवलिंग की भी पूजा होती थी और उन्हीं के पक्की ईंटों के बने मज़बूत मकान ही खाना-बदोश और मिट्टी तथा फूस के घरों में रहनेवाले आर्यों को लोहे के से लगते होंगे। फिर सिन्धु तलहटी की सभ्यता भी लगभग ३५०० ई० पू० से २७०० ई० पू० तक रही है। यदि ऋग्वेद के समय का आरम्भ ३००० ई० पू० के आसपास मानें, जो कई अन्य प्रमाणों के अनुसार मानना पड़ेगा, तो यह बात बिलकुल ही ठीक बैठ जाता है कि ३००० ई० पू० के लगभग इस द्रविड़-सभ्यता पर पहली चोट करनेवाले आर्य ही थे, जिन्होंने उसे लगभग २७०० ई० पू० सर्वथा मिटा दिया। एक और बात पर विचार करें। ऋग्वेद के कई स्थलों पर लगभग ग्यारह मंत्रों में 'असुर'-शब्द का प्रयोग आर्यों के अनुकूल अर्थ में और इन्द्र-वरुण आदि के विशेषण रूप में हुआ है। इससे सिद्ध है कि किसी समय में असुर आर्यों के हितू थे, शत्रु नहीं। वे उनके भाई थे, यह पौराणिक अनुश्रुति कहती भी है। फिर क्या यह सम्भव नहीं कि असुर और भारतीय आर्य, दोनों ही प्रबल आर्यजाति की पूर्व और उत्तरकाल की दो लहरें थीं? इस विचार

के मानने में किसी वैज्ञानिक ऐतिहासिक सिद्धान्त पर आक्षेप नहीं होता। यह मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है, जैसा योरप के विद्वानों ने आँका है कि असीरियन अर्थात् असुर-सभ्यता सेमिटिक-सभ्यता है। फिर यह भी सोचने की बात है कि 'असुर'-शब्द 'असवः'—'प्राणाः'—शक्ति अर्थ में संस्कृतभाषा का है, यद्यपि यह कहना कठिन है कि यह शब्द मूल रूप में, जैसा ऊपर बताया गया है, 'असुः' से बना है अथवा 'असुः' 'प्राण' अथवा शक्त्यर्थ असुरजाति के पराक्रमस्वरूप 'असुर'-शब्द से निकला है। एक बात अवश्य है कि इन्द्रादि देवताओं के विशेषणरूप में प्रयुक्त होने के पूर्व ही असुरशब्द ने अपने शक्तिसचित रूप की सार्थकता स्थापित कर दी होगी। सचमुच ही उसका सम्बन्ध दुर्धर्ष असुरजाति के पराक्रम से होगा। सो असुरजाति के इतिवृत्त में कोई समय ऐसा आया है, जब उसने अपने किसी एक विशिष्ट शौर्यप्रदर्शन से ख्याति अर्जित की हो? हाँ, जब संसार में सुमेर-सभ्यता का साका चलता था, तभी असुर जाति ने उस पर आक्रमण कर उसे नष्टभ्रष्ट कर दिया और उसके भग्नावशेष पर अपनी सभ्यता की नींव रक्खी। इसी असुर-शक्ति-प्रदर्शन से ही भारतीय आर्यों के ऋग्वेद ने अपने देवताओं के विशिष्ट विशेषण का अर्जन कर उसे मंत्रों में संचित किया। इस विषय में विद्वान् प्रायः एकमत हैं कि ऋग्वेद का निर्माण भारतवर्ष में ही हुआ। सो आर्यों के असुरों से पूर्व-शाखा होने के कारण भारतीय आर्यों ने अपने ३००० ई० पू० के आसपास बनने-वाले प्रारम्भिक मंत्रों में असुरों का उल्लेख किया, और लगभग उसी समय केवल एक-दो शती ही बाद, जब कि असुरों ने सुमेर-सभ्यता की बुनियाद मिटा दी, उन्हीं के एक अगले कबीले भारतीय आर्यों ने सिन्धु तलहटी की द्रविड़-सभ्यता पर कुछ चोटें करके उसे मिटा डाला। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार

मोहनजोदड़ो आदि के द्रविड़ों और ऊर के सुमेरों में समानता थी, उसी प्रकार भारतीय आर्यों और असुरों में भी कुछ अपना-पन था। पौराणिक अनुश्रुति कहती भी है कि आर्य और असुर भाई-भाई थे। कश्यप की दो स्त्रियाँ थीं—दिति और अदिति। दिति से दैत्य—असुर हुए, और अदिति से आदित्य—आर्य।

इस युक्ति के अनुसार भारतीय आर्यों का भारत में आना ३००० ई० पू० के लगभग ठहरता है। जब वे सप्तसिन्धु में आ खड़े हुए, गेहूँ के खेतों ने लहरा-लहरा कर उनका स्वागत किया, निसर्ग नाच-नाच उन्हें बधाई देने लगा और उन कृतज्ञ भावुक कविहृदयों से ऋग्वेद के वे मंत्र फूट पड़े। यह ऋग्वेद के निर्माण की परम्परा, जो लगभग ३००० ई० पू० में प्रारम्भ हुई, सदियों तक चलती रही। अन्त में उसका निम्नतम छोर तब समाप्त हुआ, जब देवापि और शन्तनु हुए, जो महाभारत से कुछ ही पूर्व के व्यक्ति और द्वैपायनव्यास के समकालीन थे। यों ऋग्वेद का निचला स्तर महाभारत-युद्ध के शीघ्र-पूर्व से जा मिलता है। ऋग्वेद के प्राचीनतम और निम्नतम स्तरों की भाषा में कुछ अन्तर है; पर इतना नहीं, जो कई सहस्राब्दियों में सम्भव हो सके। हम इस बात को न भूलें कि केवल दो सहस्र वर्षों में संस्कृत भाषा के ही व्यवहार में इतना अन्तर पड़ गया कि अनेक प्रान्तीय भाषाएँ बन गईं और उनके स्वतंत्र साहित्य प्रस्तुत हो गये, जिनको समझना केवल संस्कृतज्ञ के लिए दुष्कर हो गया है। फिर इन स्तरों में यदि परस्पर दसों हज़ार वर्षों का, जैसा कुछ लोगों का अनुमान है, अन्तर होता तो उनमें कल्पनातीत अन्तर पड़ गया होता, उससे कहीं अधिक, जितना प्राचीनतम ब्राह्मणों की भाषा और आधुनिक भोजपुरी अथवा अवधी में आज हो गया है। इस कारण वह अन्तर लगभग डेढ़ हज़ार वर्षों के रक्खा जा सकता है। इस प्रकार

यदि ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तरों का क़रीब ३००० ई० पू० में आरम्भ मानें तो निःसन्देह उसके निचले स्तरों के छोर, जिनमें महाभारत के शीघ्र-पूर्व के व्यक्तियों का हवाला है, प्रायः १५वीं-१४वीं शती ई० पू० जा पहुँचेंगे। आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि पौराणिक अनुश्रुति में दिये गये राजवंशों के ययाति, पुरुकुत्स आदि जिन राजाओं का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है, उनको ऐतिहासिक पद्धति से अपने वंश की क्रमागत पीढ़ियों से मिलाने पर भी कोई विशेष तिथि-क्षय नहीं देख पड़ता। फिर जिस १४०० ई० पू० तिथि को पुराण एकमत हो घोषित करते हैं, उसे हम महाभारत की युद्ध-घटना की तिथि क्यों न मान लें?

इस सम्बन्ध की अन्तिम बात यह है कि एशिया माइनर के बोग़ज़कोई में जो लेख मिले हैं, उनमें एक विशेष रूप से ऋग्वेद के निर्माणकाल और महाभारत युद्ध-तिथि पर प्रकाश डालता है। यह खत्ती और मितनी जातियों के युद्धों का अन्त करनेवाला एक सन्धिपृष्ठ है। इस सन्धि के आरम्भ में कुछ वैदिक देवताओं को साक्षीरूप में आकृष्ट किया गया है। इनमें से विशिष्ट हैं—इन्द्र, वरुण और नासत्य। कुछ विद्वानों ने अनुमान किया था कि सम्भवतः यह भारतीय आर्यों के सर्वप्रथम भारतप्रवेश के मार्ग का एक स्मारक है, जब वे ईरानी आर्यों से अभी पृथक् नहीं हुए थे। परन्तु अब यह बात उठी जा रही है; क्योंकि उन देवताओं का नामोल्लेख जिस शैली में किया गया है, वे सर्वथा ऋग्वैदिक हैं। यह लगभग सभी विद्वानों की धारणा है कि ऋग्वेद का निर्माण सप्तसिन्धु-पंजाब में हुआ। तब यह अनिवार्य मानना पड़ता है कि यह स्थल आर्यजाति की उस धारा का राजनीतिक और धार्मिक उपनिवेश रहा होगा, जो भारतवर्ष में बहुत काल तक बसकर फिर उत्तर की ओर

निकल गई थी। ऐसा एक समय, जैसा पिछले लेख में बताया जा चुका है, दाशराज्ञ-युद्ध के बाद हुआ था। यह बोग़ाज़कोई का लेख १४वीं शती ई० पू० का है। इसमें सन्देह नहीं कि एक धारा, जो द्रुह्यु वंश की थी और भारत से जिसके एकाएक लुप्त हो जाने की बात पुराण कहते[1] हैं, उत्तर में जाकर म्लेच्छों पर शासन करने लगी। परन्तु भारतवर्ष का इन मध्यएशिया के प्रान्तों से घना सम्बन्ध, उपनिवेश-स्थापन और आबादी का आदानप्रदान, विशेष रूप से, महाभारत-काल में हुआ है, जब स्वयं पाण्डव दिग्विजयों में व्यस्त थे, और स्वयं महाभारत जिन स्थलों का बारम्बार उल्लेख करता है। महाभारत-युद्ध के लिए एक या दूसरे पक्ष की ओर से आये अनेक राजा ऐसे हैं, जो भारत की भौगोलिक सीमाओं के बाहर के, उत्तर, और उत्तर-पश्चिम के हैं। और, चूँकि यह बोग़ाज़कोई का लेख लगभग १४वीं शती ई० पू० का है, इसलिए महाभारत का युद्ध-काल १५वीं ई० पू० के आरम्भ में मानना युक्तियुक्त है।

इन प्रमाणों के आधार पर हम महाभारत-युद्ध का समय १५०० ई० पू० के लगभग मानते हैं।

परिशिष्ट 'क'

बृहदारण्यक उपनिषद् की गुरु-शिष्य-तालिका

(नीचे लिखे व्यक्तियों में से १ से १३ तक शतपथ ब्राह्मण के दसवें खंड के अन्त में भी दिये हुए हैं--)

१. ब्रह्मा स्वयंभू—(यह स्पष्टतः एक देवता का नाम है।)

२. प्रजापति—(यह भी देवता का ही नाम है।)

[1] प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्वं एव ते।
म्लेच्छराष्ट्राधिपाः सर्वेह्युदीचीं दिशमास्थिताः॥
वायुपुराण, ६६, १२।

३. तुरकावषेय—(प्रथम मानवगुरु, और शतपथ ब्राह्मण और भागवत के अनुसार जनमेजय का एक पुरोहित।)

४. यज्ञवचस् राजस्तम्बायन—(मैत्रायणी संहिता ३, १०, ३, और ४, ८, २ में उल्लिखित।)

५. कुश्रि—

६. वात्स्य—(शतपथ ब्राह्मण ६, ५, १, ६२ में अंकित।)

७. शाण्डिल्य—(शतपथ ब्राह्मण में कई बार अंकित।)

८. वामकक्षायण— शतपथ ब्राह्मण ७, २, १, ११ में अंकित।)

९. माहित्थि—(शतपथ ब्राह्मण में कई बार अंकित।)

१०. कौत्स—

११. माण्डव्य—(आश्वलायन गृह्यसूत्र की ३, ४, ४ और शांखायन गृह्यसूत्र ४, १०, की ब्रह्मयज्ञ-सूची में अंकित।)

१२. माण्डकायनि —

१३. साञ्जीवीपुत्र —(शतपथ ब्राह्मण की सूची यहाँ समाप्त हो जाती है।)

१४. प्राचीन योगीपुत्र—

१५. कार्षकेयीपुत्र—(माध्यन्दिनशाखा के अनुसार यह साञ्जीवीपुत्र [नं० १३] के एक शिष्य प्राश्नीपुत्र का एक शिष्य था।)

१६. वैदभृतीपुत्र—

१७. क्रौंचिकीपुत्र—

१८. भालुकीपुत्र —(माध्यन्दिनशाखा के अनुसार नं० १४ का शिष्य।)

१९. राथीतरीपुत्र—(माध्यन्दिनशाखा के अनुसार नं० १७ का शिष्य।)

२०. शाण्डिलीपुत्र—

२१. माण्डुकीपुत्र—

२२. माण्डुकायनीपुत्र—

२३. जयन्तीपुत्र—

२४. आलम्बीपुत्र—

२५. आलम्बायनीपुत्र—(माध्यन्दिशाखा नं० २४-२५ को २५-२४ कर देती है।)

२६. सांकृतीपुत्र—

२७. शौंगीपुत्र—

२८. आर्तभागीपुत्र—(बृहदारण्यक उपनिषद् ३, २, १, १३ में अंकित जरत्कारव का आर्तभाग पितृनाम है।)

२९. वार्कारुणीपुत्र—(प्रथम)

३०. वार्कारुणीपुत्र (द्वितीय)—(माध्यन्दिन में इस नाम के केवल एक ही व्यक्ति का उल्लेख है।)

३१. पाराशरीपुत्र—(प्रथम)

३२. वात्सीपुत्र—(माध्यन्दिन के अनुसार इसका नाम वात्सीमाण्डवीपुत्र है।)

३३. पाराशरीपुत्र—(द्वितीय)

३४. भारद्वाजीपुत्र (प्रथम)—(माध्यन्दिन के अनुसार नं० ३२ का गुरु।)

३५. गौतमीपुत्र—(प्रथम)

३६. आत्रेयीपुत्र—

३७. काण्डवीपुत्र और कापीपुत्र—(यह बात ध्यान रखने की है कि समकालीनों का उल्लेख उत्तराधिकारियों के रूप में नहीं हुआ है।)

३८. वैयाघ्रपादीपुत्र और आलम्बीपुत्र—(यहाँ भी समकालीनों का उल्लेख साथ-साथ है।)

३९. कौशिकीपुत्र—

४०. कात्यायनीपुत्र—(प्रथम)

४१. पाराशरीपुत्र—(तृतीय)

४२. आपस्वतीपुत्र—(माध्यन्दिनशाखा में अनुल्लिखित ।)

४३. पाराशरीपुत्र—(चतुर्थ)

४४. भारद्वाजीपुत्र—(द्वितीय)

४५. गौतमीपुत्र—(द्वितीय)

४६. कात्यायनीपुत्र (द्वितीय)—शांखायन आरण्यक ८, १० में जातूकर्ण्य कात्यायनीपुत्र अंकित ।)

४७. पौतिमाषीपुत्र—(माध्यन्दिन में अनुल्लिखित ।)

इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि राजा जनमेजय का पुरोहित तुरकावषेय बृहदारण्यक उपनिषद्-काल से लगभग ४५ पीढ़ी पूर्व है ।

परिशिष्ट 'ख'

वंशब्राह्मण की गुरु-शिष्य-तालिका

१-६. ब्रह्मा, प्रजापति मृत्यु, वायु, इन्द्र, अग्नि, देवता ।

७. कश्यप—

८. ऋष्यशृंग काश्यप (नं० ७ का पुत्र)—(जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, ३, ४०, १ में कथित ।)

९. विभाण्डक काश्यप—

१०. मित्रभूः काश्यप—(नं० ९ का पुत्र ।)

११. इन्द्रभूः काश्यप—

१२. अग्निभूः काश्यप—

१३. शवस्—

१४. देवतरस् शवसायन—(नं० १३ का पुत्र । जै० उ० ब्रा० में विभाण्डक काश्यप नं० ९ का शिष्य ।)

१५. प्रतिथि देवतरथ—(नं० १४ का पुत्र ।)

१६. निकोथक भायजात्य—

१७. वृषशुष्ण वातावत—(वृषशुष्णस् ऐतरेय ब्राह्मण ५, २६, १ और कौषीतकि ब्राह्मण २, ६ में उल्लिखित है।)

१८. इन्द्रोत शौनक—(श० ब्रा० १३, ५, ३, ५, और ४, १ और शां० श्रौ० सू० १६, ७, ७, और ८, २७ के अनुसार राजा जनमेजय का एक पुरोहित। जै० उ० ब्रा० में श्रुत का शिष्य।)

१९. दृति ऐन्द्रोत शौनक—(नं० १८ का पुत्र) पञ्चविंश ब्राह्मण १४, १, १२, १५ के अनुसार राजा जनमेजय के भतीजे अभिप्रतारिन् काक्षसेनि का समकालीन। जै० उ० ब्रा० में इन्द्रोत दैवापि का शिष्य।)

२०. अराल दात्रेय शौनक—

२१. सूष वाह्नेय भारद्वाज—

२२. सुमन्त्र बाभ्रव गौतम—

२३. वशिष्ठ आरैहण्य राजन्य—(एक क्षत्रिय गुरु।)

२४. वशिष्ठ चैकितानेय—(यह पितृगोत्र छान्दोग्य उपनिषद् में दाल्भ्य को दिया गया है।)

२५. स्थिरक गार्ग्य—(गार्ग्य बृ० उ० में बलाकी का पितृ-गोत्र है। तैत्तिरीय आरण्यक के १, ७, ३, और निरुक्त के १, ३, १२, और ४, ४, १३ में भी यह नाम आता है।)

२६. अतिधन्वन् शौनक और मशक गार्ग्य—(इनमें से पहला छान्दोग्य उ० में भी नं० २७ का गुरु है। यहाँ भी सम-कालीनों को एक साथ रक्खा है।)

२७. उदर शाण्डिल्य—(नं० २८ का पिता।)

२८. गर्दभीमुख शाण्डिल्यायन—

२९. विचक्षण ताण्ड्य—(ताड्य श० ब्रा० ६, १, २, २५ में उल्लिखित।)

३०. शाकदास भाण्डित्यायन—

३१. सम्वर्गजित् और लामकायन—(इनमें से सम्वर्गजित्

लाट्यायन श्रौतसूत्र ४, ७, १५ और लामकायन ४, ६, २२ में उल्लिखित।)

३२. गाता गौतम—

३३. अमावास्य शाण्डिल्यायन और राध गौतम—(सम-कालीन।)

३४. अपु धानञ्जय— (ला० श्रौ० सू० १, १, २५, और २, १, २-१० में अंकित।)

३५. सुतेमनस् शाण्डिल्यायन—(यह पितृगोत्र सामवेद से विशेषणरूप से सम्बद्ध है।)

३६. सुनीथ कापटव—

३७. मित्रविद् कौहल—

३८. केतुवाज्य—

३९. प्रातर्हण कौहल—

४०. सुश्रवस् वार्षगण्य—(श० ब्रा० १४, ६, ४, ३३ में असित वार्षगण्य अंकित है।

४१. शाति औष्ट्राक्षि—

४२. मद्रगार शौंगायनि—(शौंगायनि बृ० उ० वाली सूची में अंकित हैं।)

४३. शम्ब शार्कराक्ष्य और कम्बोज औपमन्यव—(पितृगोत्र शार्कराक्ष्य छा० उ० ५, ११, १ और ५. १ और ऐ० आ० २, १, ४ में अंकित।)

४४. आनन्दज चान्द्रायण—

४५. भानुमान् औपमन्यव—

४६. ऊर्जयन् औपमन्यव—

४७. सुशरद् शालंक्यायन—(पितृगोत्र आश्वलायन श्रौत-सूत्र १२, १०, १४ में अंकित।)

४८. श्रवणदत्त कौहल—

४९. कस्तुक शार्कराद्य—(ऊपर देखिए नं० ४३)

५०. भवजात स्यायष्टि—

५१. बृहस्पतिगुप्त स्यायष्टि—

५२. सुप्रवीत अलुण्डय—

५३. मित्रवचस् स्थैरकायन—

५४. ब्रह्मवृद्धि छन्दोगमाहकि—

५५. गिरिशर्मा काण्ठेविद्धि—

५६. निगद पार्णवल्कि—

५७. त्राता ऐषपुमत—

५८. रुद्रभूति द्राह्यायनि—

५९. शर्वदत्त गार्ग्य—

इसी सूची के नं० १८ और १९ वें व्यक्ति, जो राजा जनमेजय और उसके भतीजे के समकालीन थे, इस तालिका के अनुसार लगभग ५५० के इस ब्राह्मण के समय के क़रीब ४० पीढ़ी पूर्व हुए।

४

"तू अपने भाग्य से पूछ"

पन्द्रह सौ वर्ष हुए जब महाभारत की एक सामान्य आख्यायिका लेकर एक महाकवि ने उसमें अक्षय प्राण फूँक दिए, तब से आज तक निरन्तर हमने उसके रस का आस्वादन किया है। यह 'शकुन्तला' क्या है ? क्या एक श्रृंगारिक कवि की वासना का रौप्य व्यक्तिकरण ? इतने दिनों से देशी-विदेशी विद्वान् इस 'शकुन्तला' के स्रष्टा को आश्चर्य और श्रद्धा से देखते आ रहे हैं पर क्या उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' सी अलभ्यकृति के भीतर घुसकर उसकी आत्मा पर भी एक दृष्टि डाली है। क्या शाकुन्तलकार का ध्येय रस-सम्पादन मात्र था ? "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः" जैसे विशद और आध्यात्मिक तत्व के ऋषि और

"अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥"

के-से मंत्र के द्रष्टा की कृतियों में यदि इस निधि के उत्तराधिकारी

भारतीय भी रस की ही खोज करें तो आश्चर्य है। प्रतीची तो अवसान देखता ही है। यदि वहाँ के पण्डित कालिदास को केवल आनन्दमार्ग का ही आश्रयी देखें तो क्या हुआ! वह बाणभट्ट जिसकी लेखनी की दुर्जेय शक्ति सब पर प्रहार करती है, जिसकी तीक्ष्ण दृष्टि से कोई दृश्य, कोई रहस्य नहीं छिपा रह सका वह भी कालिदास की सूक्तियों में मधु-मञ्जरी—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

का आस्वादन तो करता है पर वह भी इसी मधुरिमा के मद में मतवाला होकर अपनी सुध-बुध खो बैठता है, लुढ़क जाता है। जरा झाँक कर भीतर देखता तो उसे ज्ञात होता कि कवि का अध्यात्म इस साहित्यिक मंजरी से कहीं सुस्वादु और टिकाऊ है। मल्लिनाथ सा धुरन्धर टीकाकार भी विलास की इस दीवार को न भेद सका और आनन्दोल्लास का ही एक ठहाका मात्र लगा कर रह गया—

कालिदास गिरां सारः कालिदासः सरस्वती।
चतुर्मुखो ऽथवासाक्षाद् विदुर्नान्येतुमादृशः॥

अभिज्ञान शाकुन्तल एक रहस्य है। यह वह रंगमंच है जिसपर स्वयं इस जगत् का नट दुष्यन्त के रूप में नायक का अभिनय करता है और परम शैव की आराध्य देवी शिवा स्वयं उसकी नायिका बनकर लास्य करती है। क्या सचमुच 'नाट्य-शास्त्र'-कर्त्ता भरत मुनि और 'दशरूपक' के रचयिता धनञ्जय ने नहीं कहा था कि ताण्डव और लास्य के कारण-रूप शिव और शिवा ने ही नाट्य का सूत्रपात किया है? महाकवि कालिदास फिर उन प्रथमकारणस्वरूप नीललोहित के साथ उनकी शक्ति को भी रंगमंच पर उतारकर उनकी कला अभिनय-तुला पर तोल दें तो क्या आश्चर्य है?

सारा नाटक एक आध्यात्मिक रहस्य है जिसकी पहली झाँकी स्वयं कालिदास ने ली है। दुष्यन्त महाभारत का लम्पट राजा नहीं प्रत्युत् कालिदास का उत्तम पात्र है जिसके चरित्रचित्रण में उसने अद्भुत कला-कुशलता का प्रयोग किया है। भले ही शकुन्तला के त्याग के समय हम उसे कुवाच्य कह लें परन्तु क्या कोई सहृदय अपने हृदय पर हाथ रखकर दुष्यन्त को दुतकार सकता है? क्या सचमुच वह इसके योग्य है? अभिज्ञान शाकुन्तल में कदापि नहीं क्योंकि उसका प्रेमराग तो दुर्वासा की ब्रह्मवर्चस अग्नि में भस्म होकर सूख गया है उसमें लसी है ही नहीं। फिर इस बेचारे पर क्रोध का व्यापार कहाँ तक उचित है? यदि पागल को कोई उसके अनाचार के कारण धिक्कारे तो वह क्या स्वयं पागल नहीं कहलाएगा? किसमें ऐसा सामर्थ्य है जो अपनी पत्नी को सती जानता हुआ भी उस पर उपेक्षापूर्वक अपचार का दोष लगा सके?

पूरे नाटक में अध्यात्म की धारा बह रही है। इसका स्थूल पार्थिव रूप अध्यात्म में ही प्रकृति की भाँति पुरुष में अन्तर्हित हो गया है।

स्थूल पार्थिव रूप में भी दुष्यन्त क्षम्य है—सच पूछिए तो इसमें उसके दोष का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि इस अवस्था में एक सांसारिक मानव की भाँति ही वह भी सुख-दुख का अधिकारी है, द्वन्द्वों का धनी है। वह राजा है। कालिदास के काव्य ग्रन्थों के बीसों स्थलों पर राजा को वर्ण और आश्रम धर्मों का रक्षक कहा गया है। वह 'वर्णाश्रमाणां रक्षिता' है, वर्णाश्रमों के रक्षण-कर्म में परम 'जागरूक' है। वर्णाश्रम-धर्म की सीमा का जब कोई व्यक्ति उल्लंघन करता है तब महाकवि की क्षुब्ध लेखनी आग उगलने लगती है, चाहे ऐसा व्यक्ति राजा ही क्यों न हो, 'सुर-पदार्थी' शूद्र शम्बुक ही क्यों न हो। कालिदास

के विचार में सामाजिक व्यवस्था को मान कर उस पर 'नेमिवृत्ति' से आचरण न करनेवाला वह पापाचारी है जो नियन्ता द्वारा प्रतिष्ठित समाजप्रणाली का विरोध करता है। शासन और समाज की व्यवस्था मनुष्यों ने कैसे प्राप्त की थी? एकमत होकर सारे देवताओं ने ब्रह्मा से एक ऐसा व्यक्ति माँगा था जो शासन द्वारा समाज का नियन्त्रण कर सके, उसमें होनेवाले अपचार के कारणों को दण्ड की आग में जला सके, 'स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्' का उचित विवेकपूर्ण आचरण कर सके। फलस्वरूप मनु का प्रादुर्भाव हुआ जिसने मानव-जाति को सर्वप्रथम समाज और शासन की व्यवस्था दी। उस व्यवस्था को, जिसकी मनुष्यों ने स्वयं याचना की थी, भंग करने का जो साहस करेगा वह कितना साहसीक होगा! उसका दमन आवश्यक है। स्वयं शम्बुक न तो 'इतरतपस्विमृत' है न शूद्र। वह तो स्थितिभेद, वर्णाश्रम धर्म के अपचार का स्वरूप है—वह अपचार जिसके कारण पिता के सम्मुख ही पुत्र की मृत्यु राम जैसे राजा के शासन-काल में भी हो सकती है। ऐसा क्यों? पहले समय में तो ऐसा कभी नहीं हुआ था। दिलीप, दशरथादिकों के समय में हो भी क्योंकर, वहाँ तो—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥

उस समय 'शिशुसप्राप्तयौवनम्' तो दूर रहा साधारण अकाल में भी—'मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत्'—इक्ष्वाकु-शासन-काल में मृत्यु ने किसी का स्पर्श नहीं किया, इसीलिए तो हिम्मत बाँधकर मृत पुत्र को गोद में लिए जनपद का विप्र राजद्वार पर राजा को पुकार-पुकार कर धिक्कारता है:—

शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथाच्च्युता।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता॥

वैवस्वत मृत्यु को जब राम ललकारते हैं तब वही विप्र हँसकर कहता है कि दोष स्वान्तर (Subjective) है परत्र (Objective) नहीं, अपने में ढूँढ़ो, देखो कहीं गृह में ही तो अनाचार नहीं हुआ, कहीं राजा ने वर्णाश्रम धर्म का उल्लंघन तो नहीं कर दिया—

राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती॥

सो शम्बुक वह रूपधारी अपचार है जो पश्चान्मञ्चीय (back bencher) होकर भी नेता के नेतृत्व में शंका करता है। उसका दमन यदि न हुआ तो वह राष्ट्र-शरीर में पैठकर राजयक्ष्मा की भाँति उसे उदरस्थ कर लेगा। ऐसे ही व्यवस्थाभंजकों के दमनार्थ जब राजधर्म का सृजन हुआ है तब राजा वर्णाश्रम के अन्वीक्षण में सतत जागरूक क्यों न हो। इसी कारण जब-जब वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा हुई है तब-तब कालिदास ने राजा को उसके धर्म का स्मरण कराया है। मनुष्यमात्र को इस व्यवस्था-भंजन के जघन्य पाप से सावधान करने के लिए मानो उसने अभिज्ञान शाकुन्तल की सृष्टि की है। कालिदास के समय में ही कितनी ही विधर्मी जातियों का भारतवर्ष में आगमन हुआ था। इनका न तो कोई धर्म था न कोई इनकी स्थिति थी। पारसीक, यवन, शक और हूण देश में भर रहे थे। इस हेतु 'प्रकृतौ स्थापयितुं पथच्युतम्' (रघुवंश ८, ७८)—प्रकृति-नियमों से पतितों को फिर से प्रकृति अर्थात् अविकृत सत्य वर्णाश्रम धर्म में स्थापित करने के लिए—कालिदास ने शाकुन्तल का निर्माण किया। पूरा नाटक केवल एक स्रोत है जिसके पूर्व भाग का सम्बन्ध वर्णाश्रम धर्म की क्षति से और उत्तर भाग का उसके दण्ड से है। इस नाटक में कालिदास ने संसार के सामने रंगमंच पर खेलकर यह बात घोषित कर दी है कि समाज की

व्यवस्था तोड़नेवाला समर्थ राजा, अथवा घोर तपस्वी ऋषि की कन्या ही क्यों न हो, उस पर दण्ड-विधायक का चक्र चलना अवश्यम्भावी है।

मृगया करता हुआ राजा दुष्यन्त कण्वाश्रम में पहुँचता है। कुलपति नहीं हैं परन्तु आश्रम के आचार की रक्षा के लिए अनेक तपस्वी हैं और इन सबों के ऊपर ऋषिकन्या शकुन्तला अतिथि-सत्कार के अर्थ विशेष प्रकार से नियुक्त हुई है। दुष्यन्त सब प्रकार से इस कन्या द्वारा अतिथि के रूप में पूजा स्वीकार करता है। अर्घ्य आदि-प्रदान करने के साथ ही आश्रम की सूधी कन्या अपना सर्वस्व उसे अर्पण कर बैठती है। दुष्यन्त उसे हृदय खोलकर स्वीकार करता है। स्वीकार करना क्या? वह तो प्रेम की आराधना करता है। प्रेम का संचार पहले उसी के हृदय में होता है और उसकी वृत्ति चोर की-सी हो जाती है। साधारण ग्राम्य रूप उसके प्रेम का नहीं दीखता बल्कि लुका-छिपा नागरिक के प्रेम का प्रत्यक्षीकरण होता है। ग्राम्य-प्रेम खरा और निश्छल होता है, नागरिक प्रच्छन्न और मिश्रित। ग्राम्य-प्रेम में स्यावाश्व अथवा ऋषिशृंग कहता है—राजन् मुझे अपनी कन्या दो, नागरिक-प्रेम में चन्द्रमा और ययाति बृहस्पति और शुक्राचार्य के गृहों में पाप का बीज वपन करते हैं। ग्राम्य-प्रेम का अन्त दैव और प्राजापत्य विवाह में होता है, नागरिक का गान्धर्व में। नागरिक-प्रेम से ओत-प्रोत दुष्यन्त शकुन्तला के शरीर की कमनीयता को चोर की भाँति छिपकर वृक्ष की ओट से देखता है। शकुन्तला जब दुष्यन्त को देखती है उसकी हो जाती है। दोष किसका है—दुष्यन्त का अथवा शकुन्तला का? क्या यह दोष है भी? मनुष्य जहाँ होते हैं वहीं उनकी दुर्बलताएँ भी होती हैं। वे चाहे जहाँ जायँ उन्हें लिए जायँगे। फिर भी तपोभूमि विराग का स्थल है। सांसारिक सुखों का भोग कर

चुकने के बाद मनुष्य इस आश्रम का वासी होता है। यह आश्रम वह स्थल है जहाँ संसार से विरक्त मानव अपनी प्रवृत्तियाँ सर्वत्र से बटोरकर शम-दम-नियमादि के पालन में कटिबद्ध होता है, यदि वहीं सांसारिक दुर्बलता का केन्द्र इन्द्रिय-लोलुपता घर कर ले तब तो इसका निधन हो चुका। इसी कारण वेतस-निकुञ्ज के संकेत-प्रेम के अनन्तर अनुसूया घबरा उठती है—आश्रम के नियमों पर वरुण की भाँति दृष्टि रखनेवाले कुलपति कण्व के आने पर इस अनाचार की बात उनसे कैसे कही जाएगी? इस अनाचार की जघन्यता क्या स्वयं शकुन्तला नहीं समझती? साधारण नियमों को देख-देखकर आज इस व्यवस्था-ह्रास के युग में भी जब बिना बताए ब्राह्मण का पाँच वर्ष का बालक यह जानता है कि जूठे हाथों घड़ा न छूना चाहिए, बिना पाँव धोए चौके में न जाना चाहिए, तो क्या तपोधनी कण्व की आश्रिता कन्या आचारपूत आश्रम में आजन्म रहकर नित्यप्रति होनेवाले क्रिया-प्रबन्धादिकों को देख-कर भी उचित-अनुचित नहीं समझती? असम्भव! वह कला जानती है, प्रेम की पीड़ा पहचानती है। उसे सात्विक स्वेद होता है, रोमांच हो आता है, उसकी अवस्था देखकर दुष्यन्त यह सोचने का साहस करता है—

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयिभाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः॥

खुले दरबार में शास्त्रों में अकुण्ठिता बुद्धि रखनेवाले राजा को उसके अनौचित्य पर वह फटकारती है फिर क्या उसे इतना भी नहीं मालूम कि गांधर्व विवाह आश्रम की भूमि के उपयुक्त नहीं? फिर वह क्यों अनाचार करने पर उद्यत है? उसके

मेरी प्रतिष्ठा क्या करोगी, स्वयं मेरे उपस्थित होने पर भी तुम मेरा तिरस्कार करती हो। मैं तुम्हारी सत्ता का स्वयं उपस्थित होकर बोध कराता हूँ, फिर भी तुम अपनी अवस्था पर, अपने स्खलन पर आश्चर्य नहीं करती इसलिए जिसकी चिन्ता में तुम इस समय निरत हो वह स्मरण कराने पर भी तुमको नहीं पहचानेगा। कालिदास ने कहा—बहुत अच्छा, शकुन्तला की यह स्पर्द्धा! शकुन्तला ने कहा, वह क्या चीज़ है, मैंने जिस समय अवगुण्ठन हटाकर उसे अपना यह भुवन-मोहन रूप दिखाया वह लट्टू हो जायगा। व्यवस्थापक धर्मासन से तिरस्कारपूर्वक कह उठा—

भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु, स्वीकरणमत्रभवत्या स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्वलक्षणां प्रत्यात्मनं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये।

इससे बढ़कर और दण्ड आर्यकन्या के लिए क्या हो सकता है कि वह खुले दरबार में अपने पति द्वारा दुत्कार दी जाए। अभिव्यक्तसत्व-लक्षणा होती हुई भी, उसकी ओर इंगित करती हुई भी वह ठुकरा दी जाए! शकुन्तला इस दुःख से जर्जर हो जाती है फिर जब ब्रह्मचर्य के तप से तप कर शुद्ध होती है तब कहीं दुष्यन्त उसे प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य से तपने वह कण्व के आश्रम में नहीं जा सकती। वह तो ब्रह्मचर्य का पूर्वकाण्ड है, उत्तरकाण्ड तो मरीचि के आश्रम में है। कण्व के आश्रम की ओर तो आँख उठाने की भी उसकी शक्ति नहीं है। जहाँ एक बार उसने व्यवस्था तोड़ी है वहाँ वह किस भाँति जाने का साहस कर सकती है। राजा के वक्तव्य—

स्त्रीणामशिक्षित पटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ती॥

से जर्जर होकर वह कातराक्षी जब शार्ङ्गरव की ओर देखती है तब उसके कष्ट को और भी बढ़ाता हुआ वह कहता है—
इत्थमात्मकृतं प्रतिहतं चापलं दहति ।

अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात्संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥

कर्म पर पश्चात्ताप करने के लिए सच ही विधाता मित्र को भी अमित्र कर देता है। सारी वेदना दबाकर जब ऋषि-कुमार गौतमी के साथ आश्रम की ओर बढ़ते हैं तब शकुन्तला को दिखाकर वह पूछती है—भर्ता के परुष होने पर मेरी पुत्रिका क्या करे ? करुणा शार्ङ्गरव को नहीं जीत सकी। वह क्रोध से चिल्ला उठा 'किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे' ? (तब तो वह मरीचि के आश्रम में भी नहीं जा सकती, परन्तु नहीं, वहाँ वह जायगी क्योंकि उसे अभी बहुत कुछ झेलना है) । कुछ संयत होकर ऋषिकुमार कहता है—

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥

अतः शकुन्तला उस आश्रम में नहीं जा सकती जहाँ उसने अक्षम्य आचरण किया है। शकुन्तला तो सयानी है, छोटा ६ वर्ष के आयुस् को कालिदास क्षमा नहीं कर सकते। एक बार आश्रम के आचारों का उल्लंघन करने पर फिर कोई क्षमा नहीं,उसका कोई प्रायश्चित्त उल्लंघनकारी को आश्रम में नहीं लौटा सकता। विक्रमोर्वशी में पुरूरवस् का छोटा बच्चा आश्रम में अनाचार करता है। वह क्या ? शकुन्तला की भाँति जघन्य नहीं—केवल एक पक्षी को बाण से मारता है—है तो यह क्षत्रियोचित कर्त्तव्य परन्तु नगर में क्षम्य है।

आश्रम का कुलपति उसे क्षमा नहीं कर सकता। आयुस् आश्रम से निकालकर प्रतिष्ठान नगर को भेज दिया जाता है—"उपलब्ध वृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाहं समादिष्टा निर्यातयैनमुर्वशी हस्ते न्यासमिति।" सो उत्तरकाण्ड तो मरीचि के आश्रम में है। मरीचि का आश्रम वाणप्रस्थाश्रम है। यहाँ वास करती हुई शकुन्तला से उसका प्रहसन करता हुआ वाणप्रस्थ नित्य पूछता होगा—अप्रौढ़, तेरा गार्हस्थ्य कहाँ है? गार्हस्थ्य तो शकुन्तला ने खो दिया था, ब्रह्मचर्य-व्रत-भंजन के साथ ही उसका नाश हो चुका था। फिर वह उसे क्योंकर सुखी करता। ब्रह्मचर्य का सौम्य एवं स्वाभाविक अन्त गार्हस्थ्य में होता है, उसका वाण-प्रस्थ में और उसका भी संन्यास में। जिसकी नींव ही बिगड़ जाए—ब्रह्मचर्य ही खो जाए—उसके और आश्रमों की अट्टा-लिका किस पर खड़ी हो? इस आश्रम में नित्य शकुन्तला को ग्लानि होती होगी। कालिदास ने शकुन्तला को कण्वाश्रम में नहीं भेजा मरीचि के आश्रम में पहुँचाया जहाँ केवल यही बच्चेवाली है। मरीचि बराबर उसको पातिव्रत का उपदेश करते हैं। एक-एक उपदेश देह धारणकर शकुन्तला से पूछता होगा—तेरा पति कहाँ है? यह तेरा पुत्र कैसा? तू स्वीकृता है अथवा परित्यक्ता? यह दण्ड कितना भीषण है, कोई शकुन्तला से पूछे। वह शकुन्तला विरह-व्रत में तप रही है। उस व्रत का रूप कैसा है?

> वसने परिधूसरे वसाना
>
> नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
>
> अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
>
> मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥

राजसभा में शकुन्तला औरों के साथ स्वयं भी राजा को धिक्कारती है, उससे झगड़ती है परन्तु एक बार भी वह यह नहीं

कहती कि जिस अपराध को राजा होकर तुमने स्वयं किया उसका दण्ड तुम केवल मुझे क्योंकर दे सकते हो ? तुम्हें क्या अधिकार है ? कालिदास असाधारण कवि हैं। दुष्यन्त राजा आज है जब वह शकुन्तला को व्यवस्था-भंजन के कारण दण्ड दे रहा है चाहे वह उसकी प्रेयसी ही क्यों न हो। जब वह स्वयं कण्व के आश्रम में व्यवस्था भंग करता है तब वह राजा नहीं केवल एक साधारण प्रेमी है—'यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्य-मिदमायातः'। कम से कम शकुन्तला उसे एक साधारण 'तपोवन धर्म की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष' मात्र जानकर स्वीकार करती है। इसलिए उसे क्या अधिकार है जो वह चुनौती के साथ राजा से कह सके कि जब राजा होकर (जिसका कर्म व्यवस्था का पालन करना है) तुमने वही अनर्थ किया तो मुझसे तुम अच्छे कैसे हुए ? एक ही पाप के भागी दोनों में से एक दण्ड दे और दूसरा उसे स्वीकार कर भोगे ! कितनी दुर्व्यवस्था है ? परन्तु अब दुष्यन्त प्रेमी नहीं, वह राजा है और कुछ नहीं। वह उस आसन पर बैठा है जिसे कालिदास की आन्वीक्षिकी बुद्धि ने कहीं धर्मासन, कहीं कर्मासन और कहीं व्यवहारासन (seat of legal justice) कहा है। उस आसन के साथी न्याय और दण्ड हैं, पत्नी और प्रेयसी नहीं। शकुन्तला का दण्ड हो चुका।

अब दुष्यन्त। उसका दण्ड और भी कठोर है। यद्यपि वह एक साधारण नागरिक की हैसियत से प्रेम करता है और अपने उत्तरदायित्व को कम करने लिए वह अपने को केवल एक साधारण राजपुरुष घोषित करता है, परन्तु नियामक से कुछ छिपा नहीं, वह सबको जानता है। वहाँ बीसवीं शताब्दी की व्यवस्था मान्य नहीं जहाँ एक ही व्यक्ति अनेक हैसियतें

(capacities) रखता है। दुष्यन्त का भी कदाचित् यही विचार था जब उसने अपने को राजपुरुष घोषित किया था। परन्तु नियामक तो अपने नियम को देखता है और देखता है उसका सम्पादन, सम्पादक की स्थिति-विशेष से उसका सम्बन्ध नहीं। व्यवस्था दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों ने तोड़ी है, दोष दोनों का है, न कम न बेशी। दण्ड दोनों को मिलेगा, पर दुष्यन्त को दण्ड दे कौन? शकुन्तला तो प्रजा थी जिसका राजा दुष्यन्त था। राजा सबको दण्ड दे सकता है क्योंकि वह सबसे बड़ा है, सबका नियामक है। पर उसको दण्ड कौन दे? कौन उससे बड़ा है? मनुष्य तो उसे दण्ड दे नहीं सकता क्योंकि वह 'सर्वातिरिक्तसार' एक असाधारण व्यक्ति है, 'सर्वतेजोमय' है, 'पृथ्वी के सारे जीवों को मेरु की भाँति आक्रान्त कर' वह उन पर शासन करता है। यह उसका 'प्रतिज्ञा-सिद्ध' अधिकार है। वह देवताओं का अंश है। जब राजा दिलीप की रानी सुदक्षिणा गर्भ धारण करती है तब उसके गर्भ में सारे लोकपाल प्रवेश करते हैं। सो इन्द्रवरुणादि देवताओं के अंशरूप कालिदास के इस राजा को कौन मानव दण्ड दे सकता है? उसे वह स्वयं दण्ड देगा। नियति उसे राह पर लाएगी। उसके शरीर में देवताओं का निवास है, सारी देवशक्तियाँ इस प्रतिज्ञादुर्बल राजा को मिलकर दण्ड देंगी। इन्द्र राजा है, वरुण व्यवस्था का रक्षक है, सूर्य प्रतापवान् है— अब दुष्यन्त तपेगा।

छठे अंक के आरम्भ में नागरिक राजा द्वारा शकुन्तला को दी हुई अँगूठी राजा के पास ले जाता है। उसके दर्शन से राजा को किसी प्रियजन का स्मरण हो आता है—मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत्—प्रकृति गम्भीर होने पर भी 'गूढ़ेङ्गिताकार' कुछ अप्रतिभ हो जाता है, नेत्र भर आते हैं। यदि कोई साधारण कलाकार होता तो यहाँ राजा

को विक्षिप्त बना देता परन्तु कालिदास का राजा अपने गहरे दुःख में भी शान्त है। बहुत दिनों तक वह हमारी आँखों से ओझल है। दुःखावेग अधिक करने के लिए कालिदास ने उसे रंगमंच से दूर कर दिया है और बहुत दिनों के बाद वह रंगमंच पर आता है। आते ही जब सर्वप्रथम वह बोलता है तब उसकी करुण भारती उन शब्दों का सृजन करती है जिनका सानी संसार के किसी साहित्य में नहीं। सर्वप्रथम बहुत दिनों के बाद जब दुष्यन्त जबान खोलता है तब हम सुनते हैं—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदय संप्रति विबुद्धम् ॥

'उस समय मेरा हृदय किस नींद सोया था जो प्रिया के बारम्बार जगाने पर भी न जगा, अब जगा भी तो केवल दुःखावेग को समझने के लिए!' इतनी कारुणिक पंक्तियाँ कम से कम जहाँ तक इस लेखक को ज्ञात हैं संसार की किसी भाषा के साहित्य में नहीं। दंड का आरम्भ हो चुका है। इसकी कठोरता यदि किसी को देखनी हो तो वह छठे और सातवें अंकों में दुष्यन्त के साथ-साथ चले। हम तो उसके दंड और प्रायश्चित्त का सूक्ष्म दर्शनमात्र कराएँगे। सो उसका हृदय दुःख के आघात से जाग उठता है, वही जो प्रिया के जगाए नहीं जागा। दुर्वासा के रूप में ब्रह्मचर्य ने भी यही कहा था—तुम स्वयं मेरी अभ्यर्थना कहाँ तक करोगी, मद्यपी की नाईं आचरण करती हो। मुझ स्वयं आए हुए को देखकर भी औचित्य नहीं पालतीं इसलिए स्मरण कराने पर भी तुम्हारा प्रेमी तुम्हें नहीं पहचानेगा। शकुन्तला के पक्ष में तो यह पूरा सार्थक हुआ पर क्या दुष्यन्त के पक्ष में भी हुआ? हाँ, उसे शकुन्तला ने बारम्बार कहा कि उठो देखो, मैं वही हूँ—वही वेतसनिकुंजवाली। प्रेयसी अपना संकेतस्थान तक बता देती है, परन्तु दुष्यन्त का हृदय

नहीं जागता ! दुष्यन्त की ओर से आश्रम की व्यवस्था की रक्षा कहाँ हुई थी ? उसने यद्यपि अपने को राजा नहीं बताया फिर भी आश्रमों की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष तो बताया। ऐसी अवस्था में ही उसने कौनसा कम पाप किया। अब दुष्यन्त क्या करे ? उसका दुःखावेग निरन्तर बढ़ता जाता है और उसकी पराकाष्ठा तब होती है जब वह इन्द्रलोक से लौटकर मरीचि-आश्रम में जाता है और वहाँ अपने बेटे सर्वदमन को गोद में लेता है। बालक माँ के पहुँचने पर उससे पूछता है—माँ, भला यह कौन है ? दुःख की मारी, परित्यक्ता पत्नी, समाज की व्यवस्था का उल्लंघन और उसके भयंकर दंड को स्मरण कर, अपने सारे कष्टों को एकत्र कर पुत्र से कहती है—'ते भागधेयानि पृच्छ'—बेटे, भाग्य से पूछ ! इन्हीं पदों पर सारा नाटक नाचता है। यहीं उसका केन्द्रीभूत हृदय है। बेटा अपने भाग्य से क्या पूछे ? उसका भाग्य कहाँ है ? उसके इस भाग्य का जिसके फलस्वरूप उसका पिता व्यवहारासन से—न्याय की कुर्सी से—न्यायालय में चिल्लाकर कहता है—तुम मेरे नहीं हो—उस भाग्य का स्रष्टा कौन है ? शकुन्तला और दुष्यन्त का अपावन प्रेम। वह प्रेम जिसने ब्रह्मचर्य का अपमान कर आश्रम की व्यवस्था भंग की। दुष्यन्त अब ठहर नहीं सकता। शकुन्तला का सारा दुःख मूर्तिमान होकर उसके सामने आ खड़ा होता है। वह सोचता है क्या वह वही है जिसने अपनी ही पत्नी को खुले दरबार में कह दिया था—तू मेरी नहीं है चली जा। घबराकर वह शकुन्तला के चरणों पर गिर जाता है, और वह उसे उठाकर हृदय से लगा लेती है। दोनों ओर से आँसुओं की धाराएँ निकलकर प्रायश्चित्त रूप में उनके पापों के ऊपर बह जाती हैं। इस दंडरूप तप की भट्ठी में जलकर जब उनका पाप भस्म हो जाता है तब पुत्र रूपी राग उत्पन्न

होकर उनके हृदयों के घावों को दोनों ओर बैठकर भर देता है। भला पति की इच्छा मात्र पर प्राण देनेवाली शकुन्तला के चरणों पर दुष्यन्त गिरे कितना बड़ा गौरव उसका है! पति-रूप देवता होकर पत्नी के चरणों पर गिरता है कितना गहरा उसे दुःख है! व्यवस्था-भंग के कारण और उसके दंड-स्वरूप फल का प्रादुर्भाव होकर अभिज्ञान शाकुन्तल का आध्यात्मिक-रूप में अर्थ सिद्ध हो गया।

इसी प्रकार यह भी देखना है कि दुर्वासा ब्रह्मचर्य के रूप हैं, कण्व गृहस्थाश्रम और मरीचि वाणप्रस्थ के। तीनों एक-एक के अधिपति हैं।

कला के ऊपर तो बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं परन्तु यहाँ इतना थोड़े ही में यह बता देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि दुर्वासा का शाप और अँगूठी की रचना आवश्यक है। उन्होंने दुष्यन्त को पार्थिव रूप में भी बचा लिया है। वरन् कौन मानव इस 'अन्यथापराधदण्ड' की भीषणता को बर्दाश्त कर सकता है? क्या एक कन्या के हार्दिक प्रेम का अन्त इतने भीषण दण्ड में होना चाहिए? परन्तु उसकी भीषणता को कम करने के लिए दुर्वासा का शाप बीच में आ जाता है। नियति है जो न करावे। अभाग्य से ही शकुन्तला अमानुषिक कष्ट झेल रही है। इस कष्ट का कारण कौन है—दुष्यन्त? नहीं, अभाग्य, अदृष्ट, दुर्दैव—दुर्वासा का शाप—The moving finger writes and having writ, moves on जिसके कारण दुष्यन्त शकुन्तला को—अपनी प्रेयसी को—नहीं पहचानता। दुष्यन्त बच गया नहीं तो देश-देशान्तर में उत्तरोत्तर मानवी प्रसूति के धिक्कारभरे शापों से जर्जर कहाँ जाकर टिकता! इसी 'अन्यथापराधदण्ड' की भीषणता को कम करने के लिए कालि-दास ने ऋषिकुमारों के मुख से नगर के प्रति घृणा दिखाई

है। नगर में घुसते ही ऋषियों को ऐसा मालूम होता है जैसे सर्वत्र आग सी लग गई हो—

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरहो
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव॥

शारद्वत भी घबड़ा उठता है—जाने भवान्पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः। अहमपि—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि॥

अभी तो केवल अरण्य और नगर में स्थूल ही अन्तर दीखता है। आगे इस नगर के देवता राजा का आचरण किस प्रकार का है वह भी देखो। फिर भी यदि पहले ही नगर के आचार का दिग्दर्शन कवि ने न करा दिया होता तो तपस्वियों का क्रोध हस्तिनापुर को भस्म कर डालता।

५
कालिदास का समय

कालिदास कब हुए ?—यह एक समस्या है और कठिन। इस महाकवि के समय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और जिन सीमाओं के भीतर विद्वानों ने उसे रखा है उनका विस्तार बड़ा है। एक ओर तो लोगों ने कालिदास को ई० पू० द्वितीय शताब्दि में रखा है और दूसरी ओर ईसा की सातवीं सदी में या उसके भी बाद। और इन दोनों सीमाओं के भीतर जो काल-निर्णय उनके संबंध में किए गए हैं वे अनेक हैं। यहाँ पर हमारा उन निर्णयों के पक्ष या विरोध में प्रमाण देना मन्तव्य नहीं; यथार्थतः तो इन सिद्धान्तों में से कई तो ऐसे निकलेंगे जिनपर कथोपकथन करना समय का दुरुपयोग ही होगा। अतः यहाँ हम उनमें से कुछेक पर ही संक्षेप में विचार करेंगे और प्रयत्न इस बात का करेंगे कि कुछ प्रमाण ऐसे प्रस्तुत हो जायँ जिनसे कालिदास का काल अधिक से अधिक सही निर्णय किया जा सके। इसलिए इस लेख में उपरोक्त दोनों सीमाओं को यथा-

सम्भव पास लाने की कोशिश की जायगी जिसमें उस कवि का निकटतम काल निर्धारित हो सके। अस्तु !

कालिदास के काल की दोनों सीमाएँ आसानी से स्थिर हो जाती हैं। उसकी प्राचीनतम सीमा तो कवि के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से स्थिर हो जाती है क्योंकि इसमें शुंगवंश के प्रतिष्ठापक सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र और उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के शासक अग्निमित्र का वर्णन है। पुष्यमित्र का शासनकाल संभवतः ई० पू० १४८ तक समाप्त हो चुका था। इस कारण चूँकि कालिदास ने उसके बेटे अग्निमित्र के अन्तःपुर का वर्णन किया है वह ई० पू० १४८ से पूर्व नहीं रखे जा सकते। इसी प्रकार उनकी निचली सीमा ६३४ ई० के ऐहोल लेख से सीमित हो जाती है क्योंकि इस लेख में उनके नाम का उल्लेख है।

दूसरी सदी ई० पू० के पक्ष में प्रमाण पुष्ट नहीं हैं। फिर हमें इस बात का भी विचार रखना होगा कि कालिदास महर्षि पतञ्जलि के समकालीन नहीं हो सकते क्योंकि उनके ग्रन्थों में पतञ्जलि के योगसूत्रों का प्रचुर ज्ञान सिद्ध है। कालिदास तक इन सूत्रों की परम्परा सी बन चुकी थी जिससे वे अवगत थे। इस परम्परा के निर्माण में समय लगा होगा, शताब्दियाँ बीती होंगी। और इधर पतञ्जलि का काल निर्णीत हो चुका है। वे पुष्यमित्र शुङ्ग के ई० पू० द्वितीय शती में समकालीन थे। उनका उन्होंने अश्वमेध कराया था जैसा महाभाष्य के एक उदाहरण—इह पुष्यमित्रं याजयामः—से सिद्ध है। इस राय में विद्वान् एकमत हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि ख्याति के अनुसार कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए परन्तु शुङ्गों में किसी राजा की उपाधि विक्रमादित्य की न रही।

इसी प्रकार ई० पू० प्रथम शती वाले सिद्धान्त को मानने में भी कई कठिनाइयाँ हैं जिनका समाधान संभव नहीं जान पड़ता। यह सिद्धान्त बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि विक्रम संवत् ५६ ई० पू० में विक्रमादित्य नामक किसी राजा द्वारा चलाया गया जो राजा कालिदास का संरक्षक भी था। परन्तु ईसा पूर्व प्रथम शताब्दि में होनेवाले विक्रमादित्य नामक किसी राजा को हम नहीं जानते जो इतना प्रतापी हुआ हो जो शकों को निकालकर 'शकारि' कहला सके और एक संवत् चला सके। कुछ लोगों ने तो इस बात में भी सन्देह किया है कि विक्रम संवत् ई० पू० पहली सदी में चलाया गया। वास्तव में इस विक्रम संवत् का पहले पहल प्रयोग (जाने हुए आँकड़ों से) इसके चलाये जाने के समय (प्रथम शती ई० पू०) से लगभग हज़ार वर्ष बाद के एक लेख में हुआ है। प्रथम शती ई० पू० वाले सिद्धान्त के दो प्रबल समर्थक हैं, रावबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य और प्रोफेसर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय। रावबहादुर के प्रमाणों का, जो 'एनाल्स् ऑफ़ भण्डारकर इन्स्टीट्यूट'[1] में प्रकाशित हुए हैं, खण्डन श्री के० जी० शंकर ने उसी पत्रिका के अगले अंक में[2] पूर्णतया किया है। प्रोफेसर चट्टोपाध्याय के विचारों का भी उत्तर प्रोफेसर वी० वी० मीराशी ने अपने 'कालिदास'[3] में दिया है। फिर भी प्रो० चट्टोपाध्याय के प्रमाणों के सम्बन्ध में कुछ नई बातें कहनी रह ही गई हैं जो नितान्त आवश्यक हैं। प्रो० चट्टोपाध्याय के प्रमाणों का निचोड़ यह है कि प्रथम शती ईस्वी में होनेवाले और कुषाण सम्राट कनिष्क के समकालीन दार्शनिक और कवि अश्वघोष की कृतियों

[1]जुलाई, १६२०, पृ० ६३-६८।

[2]पृ० १८६ से—

[3]हिन्दी संस्करण, पृ० १४ से—

और कालिदास के वक्तव्यों में काफ़ी समता है जो इस बात को सिद्ध करती है कि इनमें से एक ने दूसरे से लिया है। और इस संबन्ध में वे कालिदास का प्रभाव अश्वघोष पर बताते हुए कहते हैं कि चूँकि अश्वघोष ईसा की पहली सदी में हुए, कालिदास ई० पू० प्रथम शती में हुए होंगे। परन्तु इस सिद्धान्त के विरोध में कई प्रमाण पर्वत की तरह अचल हैं। पहले तो यही मंजूर करना मुश्किल है कि दोनों में इतनी समीप की समानता है जितनी प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय ने दिखाई है। वास्तव में कालिदास के जिन पदों को वे अश्वघोष में पढ़ते हैं उन पदों में से नब्बे फ़ीसदी तो संस्कृत कवियों की समान-संपत्ति हैं। यथार्थतः वे संस्कृत साहित्य की संपत्ति हैं जिन्हें समय समय पर सभी ने अपनाया है। और यदि किसी प्रकार यह सिद्ध भी हो जाय कि एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ा है तब भी यह सिद्ध करना अभी रह ही जाएगा कि किसका प्रभाव किस पर पड़ा। दोनों कवियों की कृतियों से उपलब्ध प्रमाण और तज्जन्य निष्कर्ष जो माननीय प्रोफ़ेसर ने निकाला है वह नितान्त गौण और अनिश्चित है। उनके कुछ निष्कर्ष तो अत्यन्त निराधार हैं यह उनके प्रमाणों पर विचार कर आसानी से सिद्ध किया जा सकता है।

प्रोफ़ेसर साहब का विचार है कि जब कभी कोई दार्शनिक कविता लिखने पर बाध्य होगा तब वह निश्चय किसी कवि की नक़ल करेगा[१]। परन्तु इस बात का ही क्या प्रमाण है कि अश्वघोष ने बाध्य होकर कविता लिखी? हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि उसने बाध्य होकर अपने काव्य हरगिज़ नहीं लिखे। काव्य उसने स्वेच्छा से लिखे अपनी आन्तरिक रूझान से प्रभावित होकर। उसने अपनी काव्य-प्रतिभा के सच्चे

[१] *The Date of Kalidasa*, पृ० ८३।

जगमगाते हीरे 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' के रूप में विद्वान् समीक्षकों के सामने रख दिए हैं। जो भी समीक्षक अश्वघोष की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालेगा उसे इस बात को पूर्णतया मानना होगा कि चाहे यह दार्शनिक कवि शैली की प्रौढ़ता में, भाषा और भावों के माधुर्य में अथवा वस्तु-काय के निर्माण में अमुक कवि से उत्कृष्ट न निकले परन्तु उसके 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' किसी प्रकार भी निम्नकोटि के काव्य न ठहरेंगे। और प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय तो स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि अश्वघोष प्रथम श्रेणी का कवि है।[1] के० जी० शंकर का उद्धरण देते हुए प्रोफ़ेसर कहते हैं कि अश्वघोष में अनेक अनावश्यक पुनरुक्तियाँ हैं जिनसे अश्वघोष का 'नौसिख' होना[2] नज़र आता है। परन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वयं कालिदास की कृतियों में अनन्त पुनरुक्तियाँ हैं। हालाँ कि कालिदास का अपूर्व क्षमता-वाला कवि होना सर्वमान्य है। सभी उसे संस्कृत कविता का आचार्य और उस क्षेत्र में उसे अप्रतिभ मानते हैं। 'कुमारसंभव' के सातवें सर्ग के कई श्लोक 'रघुवंश' के सातवें सर्ग में कवि ने उद्धृत[3] किए हैं। एक बात कभी न भूलनी चाहिए कि सभी साहित्यकारों, के चाहे वे कवि हों चाहे गद्यकार, कुछ न कुछ ऐसे पद और भाव रहते हैं जिनके प्रति उनका विशेष स्नेह होता है। इन्हें वे बारम्बार प्रयुक्त भी करते हैं। प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय का विचार है कि कालिदास के एक श्लोक (कुमार०, ७, ६२, रघु०, ७, ११) का व्यवहार दो बार अश्वघोष ने किया है। वे पूछते भी हैं—"क्या इससे साफ़

[1] वही, पृ० १०६।

[2] वही, पृ० ८७।

[3] रघु०, ५-११; कुमार०, ५६-६२; रघु०, १६; कुमार०, ७३।

साफ़ ज़ाहिर नहीं हो जाता कि चोर कौन है ?" फिर वे कहते हैं कि "आचारवादी भिक्षु (कालिदास के) 'मद्य की सुरभि' को यत्नपूर्वक (मतलब से) भुला देता है।"[१] प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय ने लाभवशात् एक ही तर्क का दो विरोधी संदर्भों में प्रयोग किया है। इस स्थल पर वे बड़ी प्रसन्नतापूर्वक प्रिंसिपल शारदारंजन राय का उद्धरण देते हैं—"इस विचार से अनुमान प्रबलतया यह होता है कि कालिदास ही इन समान विचारों के कर्त्ता हैं। यदि वे न होते तो वे इस प्रकार उन तुल्यात्मक भावों और पदों का प्रदर्शन न करते। चोर कभी चुराई वस्तुओं का प्रदर्शन नहीं करता।"[२] अब प्रश्न यह है कि चोर कौन है, कालिदास या अश्वघोष ?—वह जो अपनी चोरी छिपा लेता है या वह जो उसका प्रदर्शन करता है ? यदि अश्वघोष ने कालिदास के पद चुराए होते तो क्या वह उनका बारम्बार प्रयोग कर उन्हें प्रदर्शित करते ? और क्या इसी युक्ति के सहारे यह नहीं कहा जा सकता कि चोर बारम्बार चुराए हुए पदों का प्रयोग करेगा जिसमें संसार पर विदित हो जाय कि वे और किसी के नहीं केवल उसी के हैं ? वे अवश्य उसके परिधान हैं जिन्हें वह रोज़-रोज़ अनेक अवसरों पर धारण करता है। और स्वयं विद्वान प्रोफ़ेसर का यह कहना कुछ अजीब है कि कालिदास के अकेले श्लोक का अश्वघोष ने दोहरा प्रयोग किया है जब वह स्वयं इस बात के प्रमाण में कालिदास के उन दो श्लोकों को निर्दिष्ट[३] करता है जिनमें एक 'कुमारसंभव' और दूसरा 'रघुवंश' में मिलता है। बाक़ी 'मद्य की सुरभि' की बात यह है कि 'आचारवादी भिक्षु' उसे जान बूझकर भुला नहीं

[१] *The Date of Kalidasa* पृ० ८८।

[२] वही, पृ० ८४।

[३] वही, पृ० ८८।

देता वरन् वह इसकी भावना ही नहीं कर सकता। उधर कालिदास पर अपने काल की छाप है। अपने समय से ऊपर उठना जैसे किसी कवि के लिए कठिन होता है वैसे ही कालिदास भी अपनी भावनाओं में अपनी समकालीनता को प्रत्यक्ष करते हैं। मद्य-पान कालिदास के समय की एक साधारण बात और नित्य-दर्शन था। इस प्रकार वास्तव में अश्वघोष वक्तव्य के अंश को छिपाते नहीं वरन् कालिदास स्वयं उनके पदों को अपने देश-काल की कमज़ोरियों के साथ जोड़ उनमें अपनी समसामयिक प्रवृत्तियों को झलका देते हैं।

प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय यह भी कहते हैं "चूँकि 'सौन्दरनन्द' उसकी प्रथम कृति है इसीलिए अश्वघोष ने उस काव्य के अन्त में कुछ क्षमा-प्रार्थना में पंक्तियाँ कही हैं। 'बुद्धचरित' लिखते समय कवि का यश प्रतिष्ठित हो चुका था इसलिए उसे फिर क्षमा-याचना की आवश्यकता नहीं पड़ी[1]।" परन्तु इस विचार की शक्ति कितनी क्षणिक है! क्षमा-याचना क्या संस्कृत के प्रत्येक कवि के काव्यारम्भ में एक आवश्यक परम्परा नहीं बन गई है? और क्या यश प्राप्त करने के बाद संस्कृत का कोई कवि इस पद्धति का सर्वथा त्याग कर देता है? क्या स्वयं कालिदास अपनी पूर्ण विकसित प्रज्ञा के प्रतीक 'रघुवंश' के प्रारम्भ[2] में उसी पद्धति का प्रयोग नहीं करते? और क्या नौसिखुए कवि के संबन्ध में ही यह प्रणाली आवश्यक रही है? इस विषय में भी हम कालिदास पर ही निर्भर करेंगे। 'मालविकाग्निमित्र', कालिदास के नाटकों में उनका प्रथम प्रयास है परन्तु उसके प्रारम्भ में क्या वे समीक्षा के साधारण आँकड़ों की चुनौती नहीं दे देते?[3] और क्या हम उस मनस्वी कवि भव-

[1]वही, पृ० ६०। [3]देखिए १, २, ३।

[2]१, २।

भूति के गर्वीले शब्दों में उसके समालोचकों के प्रति ललकार नहीं पढ़ते—"तान्प्रति नैष यत्नः—उत्पत्स्यते ममतु कोऽपि समानधर्मा कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ?"[१] प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय फिर यह कहते हैं अश्वघोष ने अपने काव्यों में जो शाक्यों के पूर्वेतिहास और नन्द के जन्म और उसके पूर्वजों का उल्लेख किया है वह अनावश्यक है और वह रघुवंश की नक़ल में ऐसा करता है।[२] परन्तु इसके उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि किसी ऐतिहासिक काव्य की केवल पूर्वस्थिति एक दूसरे कवि को (इसकी नक़ल में) अपने काव्य में वंशावलि देने पर बाध्य कर देगी ? और क्या चरित के आरंभ में वंशावलि देने की यह पद्धति संस्कृत साहित्य में अनजानी है ? क्या बाण अपने 'हर्षचरित' के आरंभ में उसी पद्धति का अनुसरण नहीं करते ? इसी प्रकार प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय ने अश्वघोष की एक त्रुटि से भी अपना तर्क साधना चाहा है। वे कहते हैं—"उपमा वृषभ के स्कन्ध से दी जाती है न कि सिंह के स्कन्ध से। अश्वघोष ने नन्द को कन्धे सिंह के और नेत्र वृषभ के दे दिए हैं। कालिदास दिलीप के नेत्रों का वर्णन नहीं करते परन्तु उसके कन्धों की समता वृषभ के कन्धों से करते हैं। अश्वघोष ने (अपनी चोरी में) भिन्नता लाने का प्रयत्न किया परन्तु उलटे उससे उसने अपनी साहित्यिक चोरी स्पष्ट कर दी।"[३] आगे भी वे कहते हैं[४]—"अथवा हम यह समझ लें कि अश्वघोष की यह 'भिन्नता' उसकी दुर्बल स्मरण-शक्ति से प्रादुर्भूत हुई है ?" इस वक्तव्य में पहले तो बिना किसी प्रमाण के अश्वघोष का कालिदास से

[१] मालतीमाधव, १, ८।

[२] *The Date of Kalidasa* पृ० ६२।

[३] वही, पृ० ६४ नोट।

[४] वही, पृ० ६४।

'लेना' मान लिया गया है फिर उस ग़लत प्रतिज्ञा पर यह कल्पित निष्कर्ष रखा गया है जो दूसरी ग़लती है। यदि वास्तव में इस तुलनात्मक प्रसंग में कोई त्रुटि है तो उसे कवि का सहज दोष मान लेने में कौन सी रुकावट है ? एक अनजाने दोष में 'जाने-बूझे' प्रयत्न का आरोप अकारण और अनुचित है। और यदि सच पूछें तो सिंह के कन्धे इतने चौड़े होते हैं कि उनकी समता वीर के कन्धों से दी जा सके और वृषभ के नेत्र तो सचमुच ही बहुत बड़े होते हैं जिनका प्रयोग गाँवों की भाषा में भी अद्यावधि होता है। कहते हैं—'बैल की तरह आँखें तो हैं उसकी।' विद्वान् प्रोफ़ेसर के उस वक्तव्य पर कि 'शायद भिन्नता का कारण अश्वघोष की स्मरण-भूल हो'—विचार करने से अवश्य उनकी सारी 'प्रतिज्ञा' ही गिर जाती है। क्या यह सोचना कुछ अजब न होगा कि अश्वघोष के सामने कालिदास की कृतियों की एक हस्तलिपि भी न थी? आख़िर यह तो समझना ही चाहिए कि जब कोई किसी कवि की कृतियों से पदों को 'उड़ा' लेता है और उन्हें पचा जाने के लिए उनमें आवश्यक फेर-बदल करता है तब कम-से-कम उसके पास उस कवि की कृतियों की एक प्रति तो होनी ही चाहिए। फिर इतनी चोरी कर लेने के बाद तो कम-से-कम उसे उसकी शैली में ऐसा सिद्धहस्त हो जाना चाहिए और उसकी स्मरण-शक्ति उन कृतियों के संबन्ध में तो ऐसी तीव्र हो जानी चाहिए कि उससे अपने 'मॉडल' के प्रति ऐसी भद्दी भूल न हो जाय जैसी प्रोफ़ेसर चट्टोपाध्याय ने दिखाई है।

चट्टोपाध्याय महोदय का कहना है कि अश्वघोष द्वारा वर्णित मार-विजय कालिदास के 'कुमारसम्भव'[1] के कामवर्णन के आधार पर है। परन्तु बात ठीक इसके विपरीत भी हो सकती

---

[1]वही, पृ० ६७।

है क्योंकि यह घटना बुद्ध के जीवन में एक विशिष्ट स्थान रखती है। विद्वान् प्रोफ़ेसर की यह युक्ति विशेष कुतूहल पैदा करती है जब वह कहते हैं कि कालिदास में काम द्वारा रति के चरणों का आलक्तक से रँगा जाना देखकर ही अश्वघोष में सुन्दरी को अपने गालों को चित्रित करने की कल्पना उठती है। इतना ज़रूर है, वे कहते हैं, कि वह उन्हें किसी और से (नन्द से) न रँगवाकर स्वयं अपने हाथों रँगती है। यह अश्वघोष का कालिदास के ऊपर एक सुधार है।[1] और इस संबन्ध में विद्वान् लेखक ने जयदेव का निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

स्मरगरलखण्डनं ममशिरसि मण्डनं देहि पदपल्लवमुदारम्।[2]

परन्तु यह जानना चाहिए कि यह अश्वघोष का कालिदास के ऊपर सुधार नहीं बल्कि यह कालिदास और जयदेव दोनों में इस कारण मिलता है कि दोनों ही वात्स्यायन के बाद हुए हैं। बाक़ी शिव और उमा के विवाह की नारद द्वारा और बुद्ध की महानता[3] की असित द्वारा भविष्यद्वाणी के सम्बन्ध में सीधा समाधान यह है कि बुद्ध की कथा में इस घटना का स्थान पिछले साहित्य में प्रचुर महत्व का है और यह सीधे बौद्ध कथाओं से ली जा सकी होगी। प्रोफ़ेसर फिर कहते हैं कि "अन्ततः और भी बाद का 'सूत्रालङ्कार,' जैसा 'दिव्यावदान' में सुरक्षित उसके तीन प्रसंगों (पृ० ३५७-६४, ३८२-८४, ४३०-३३) से पता चलता है, प्रथम श्रेणी का एक ग्रन्थ है जिस पर कालिदास का प्रभाव बिलकुल ही नहीं है।"[4] इस सच्ची स्वीकृति ने वास्तव में उनकी सारी युक्तियाँ मिट्टी कर दीं, क्योंकि यदि अश्व-

[1] वही, नोट।

[2] वही।

[3] वही, पृ० १००।

[4] वही, पृ० १०६।

घोष बिना कालिदास के प्रभाव के सर्वांगसुन्दर और प्रथम श्रेणी का काव्य प्रस्तुत कर सके तब क्या वही बिना उनके प्रभाव के अपने अपेक्षाकृत असुन्दर काव्यों को स्वयं नहीं रच सकते थे ? अपनी आखिरी दलील की दौरान में और अपने स्वीकरण से उत्पन्न समस्या से बचने के लिए विद्वान् लेखक एक नोट[1] में कहते हैं कि "तीसरे प्रसंग की संघ के प्रति अशोक के दान की कहानी रघुवंश के पाँचवें सर्ग में वर्णित रघु के विसर्जन की कथा से प्रभावित हुई होगी।" इस वक्तव्य से श्रीचट्टोपाध्याय का तर्क और भी अयुक्तियुक्त हो जाता है। श्रद्धालु बौद्ध के लिए उदाहरण के अर्थ अशोक का त्याग अधिक निकट और 'अशोकावदान' की कथानिधि क्या प्रचुर न थी ? और क्या अश्वघोष बौद्ध पंडित होने के नाते उनका पण्डित न था ? इस प्रकार विद्वान् प्रोफेसर के ही शब्दों का सहारा लेते हुए यह कहा जा सकता है कि "इस प्रकार की समताएँ स्वाभाविक ही होता हैं जब दो कथा प्रसंगों में समता होती है और उन समताओं का आधार अवश्य करके प्रभाव ही नहीं होता।"[2]

उसी लेख में उठाए कुछ प्रश्नों का हवाला दे देना यहाँ श्रेयस्कर होगा। ऐतिहासिकों के समान दोष से श्री चट्टोपाध्याय भी मुक्त न रह सके। उन्हीं की तरह वे भी कहते हैं कि खारवेल ने पुष्यमित्र के साम्राज्य में बड़ा उपद्रव मचा रखा था।[3] चूँकि अब पुष्यमित्र के नाम वाले ही सिक्के उपलब्ध हो गए हैं इसलिए अब भी इस राजा को खारवेल के हाथीगुम्फा वाले लेख में आया बहसतिमित्र मानना युक्तिसंङ्गक नहीं क्योंकि

[1] वही।

[2] वही, पृ० ६२।

[3] वही, पृ० ११७।

कम से कम इस प्रमाण के आधार पर तो पुष्यमित्र और खारवेल समकालीन हो नहीं सकते। बाक़ी रहा चन्द्रगुप्त द्वितीय को उज्जयिनी का राजा[1] समझने का विरोध तो वह तो आसानी से सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि चन्द्रगुप्त वहाँ का राजा अवन्ति और सुराष्ट्र जीतकर हो गया था। शिलालेखों[2] से प्रमाणित है कि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों का आधिपत्य उस प्रान्त पर बना रहा। प्रो० चट्टोपाध्याय ने एक बात और कही है। वह यह है कि "कालिदास ने ज्योतिष सम्बन्धी अपना ज्ञान विशेष रूप से प्रदर्शित किया है जिससे उस विद्या का उस प्रान्त में विशेष प्रचार ज्ञात होता है और साथ ही उसका वहाँ हाल ही का प्रसार भी।"[3] इसका उत्तर साधारण है। यदि वे ज्योतिष के लाक्षणिक शब्द प्रथम शती ई० पू० में जाने गए तब हमें एक लंबा काल इस वास्ते बीच में छोड़ना होगा जिसमें प्रथम प्रचार के बाद वे इतने जनप्रिय हो सकें कि काव्य-प्रसंगों में प्रयुक्त होने पर जनसाधारण द्वारा समझे जा सकें। इस कारण से भी कालिदास प्रथम शती ई० पू० के नहीं हो सकते।

यहाँ कुछ बातों पर और विचार कर लेना उचित होगा जिनसे प्रायः यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास ई० पू० प्रथम शताब्दि के नहीं हो सकते।

प्रथमतः कालिदास अपने ग्रन्थों के लंबे प्रसार में कहीं भी शकों का उल्लेख नहीं करते। यदि वे ई० पू० प्रथम शती में

---

[1] वही, पृ० १४३।

[2] कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा का मंदसोर का पाषाण-लेख; स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ का शिलालेख।

[3] *Date of Kalidasa*, पृ० १६२।

होते तो 'गार्गी-संहिता' के युगपुराण[1] में वर्णित उस शक आक्रमण का वे उल्लेख अवश्य करते जो मगध पर ई० पू० ३५ में हुआ था। यह सीमाप्रांत की ओर से आया आक्रमण बड़ा प्रबल था और शायद अम्लाट के नेतृत्व में हुआ था। यह अम्लाट[2] कदाचित् शकराज अय (Azes ई० पू० ५८-ई० पू० ११)—का प्रान्तीय शासक था।

दूसरी बात यह है कि कालिदास के ग्रन्थों से जो देश में पूर्ण शान्ति और समृद्धि-ऐश्वर्य का पता चलता है वह प्रथमशती ई०पू० के राजनीतिक अशान्तिमय काल में किसी प्रकार संभव न था।

तीसरा प्रमाण यह है कि उस कवि के ग्रन्थों में पौराणिक संदर्भों का अनन्त समुद्र प्रवाहित होता दीखता है जो पुराणों के संहितारूप में उपस्थित किए जाने के बाद ही संभव था। और इन पुराणों के अधिकतर संस्करण गुप्तकाल में ही संकलित हुए। प्रथम शताब्दि ई० पू० में अभी उनका कालिदास के ग्रन्थोंवाला रूप नहीं बन पाया था।

चौथी बात यह है कि देवताओं की अनन्त मूर्तियों और उनके मन्दिरों का जो अथक वर्णन कालिदास ने अपने ग्रन्थों में किया है वह ई० पू० प्रथम शती की अवस्था किसी प्रकार नहीं हो सकती, गुप्तकालीन ही हो सकती है। प्रतिमापूजन तो निश्चय बहुत पूर्व काल से ही चल पड़ा था। परन्तु हिन्दू देवताओं की प्रतिमाओं का अनन्त संख्याओं में निर्माण कुषाणकाल के पश्चात् ही संभव हो सका। इसका प्रधान कारण यह था कि मूर्तियों की संख्या का यह परिमाण बौद्धों के महायान संप्रदाय के प्रवर्तन के बाद

[1] दीवान बहादुर प्रो० के० एच० ध्रुव का पाठ, बिहार-उड़ीसा-खोज-समिति-पत्रिका, खण्ड १६, भाग १, पृ० २१, पंक्ति ५१ और पश्चात्; देखिए, वही, पृ० ४१।

[2] वही, पृ० २१, पंक्ति ५८।

ही संभव हो सका। महायान एक भक्तिमार्ग था जिसका प्रवर्तन नागार्जुन ने कुषाणराज कनिष्क के समय में किया। इसी कारण नागार्जुन के पहले की यानी ईसा की पहली सदी से पहले की हिन्दू मूर्तियाँ भारत भर में एकाध ही उपलब्ध हैं। गुप्तकाल के पूर्व प्रायः यक्ष-देवताओं की प्रतिमाओं की ही पूजा होती थी। यही कारण इस बात का भी है कि अश्वघोष के काव्यों में देव-मूर्तियों का इतना प्रचुर वर्णन नहीं मिलता जितना कालिदास के ग्रन्थों में। इस बात से भी कालिदास की अश्वघोष से उत्तर-कालीनता सिद्ध होती है और हमें यह ज्ञात है कि अश्वघोष ईसा की प्रथम शती का था।

इन विपरीत प्रमाणों के कारण हमें कालिदास का प्रथम शती ई० पू० में होनेवाला विचार छोड़ देना होगा। इसी प्रकार श्रीहोर्न्ले[1], महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री[2] और डाक्टर देवदत्त रामकृष्ण भण्डार[3] का ईसा की छठी सदी वाला विचार भी—जिसके अनुसार कालिदास यशोधर्मा का समकालीन हो जाता है,—डा० ए० बी० कीथ[4] और बी० सी० मजुमदार[5] द्वारा पूर्णतया असिद्ध किया जा चुका है और उसे हमें छोड़ ही देना पड़ेगा। होर्न्ले और पाठक द्वारा प्रस्तुत 'कुंकम' वाला प्रमाण भी सर्वथा खण्डित हो जाता है जब हम पाठक के साथ ही 'रघुवंश'

[1]रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका, १६०६, पृ० १०६ और पश्चात्।

[2]*JBORS*, १६१६, पृ० ३१ आदि।

[3]एनाल्स् ऑफ़ भण्डारकर इन्स्टिट्यूट, १६२७, खण्ड ८, पृ० २००-४।

[4]*JRAS*, १६०६, पृ० ४३३ आदि।

[5]वही, पृ० ७३ आदि; *JBORS*., १६१६, पृ० ३८६ आदि।

के चौथे सर्ग में 'सिन्धु' के स्थान में 'वंक्षु'का'[1] पाठ स्वीकार कर लेते हैं। हूणों ने ४२५ ई० में ही वंक्षुनद पार कर लिया था और वे उसकी तलहटी में बस चुके थे। तभी वे ईरान के राजा बहरामगौर के हाथ पराजित हुए थे और उनके और फारस के बीच की सीमा वंक्षु नदी निर्धारिक की गई थी। इससे पहले ३५० ई० में ही हूणों ने फारस पर आक्रमण किया था जब शापूर महान्[2] ने उन्हें भगा दिया था। इस कारण इसकी बिलकुल ही ज़रूरत नहीं कि कालिदास को इसलिए छठी सदी में घसीटा जाय जिससे हूणों को भारत पर आक्रमण करने और काश्मीर में बसने का अवकाश मिल जाय। वे ठीक तब वहाँ बसे थे जहाँ कालिदास के रघु और मेहरौली लौह स्तंभ के 'चन्द्र' ने उन्हें पराजित किया था। और चूँकि मन्दसोर लेख के कवि वत्सभट्टी[3] ने कालिदास की नक़ल की है कालिदास को कम से कम ४७२ ई० से पूर्व तो रखना ही होगा क्योंकि यह लेख इसी सन् में खोदा गया था।

कालिदास ने कुमारगुप्त के काल में होनेवाले हूणों और पुष्यमित्रों के आक्रमणों का उल्लेख नहीं किया है इस कारण श्रीमनमोहन चक्रवर्ती[4] की पाँचवीं सदी ईसवी के अन्तवाली तिथि भी छोड़ ही देनी पड़ेगी। अतः कालिदास का समय खिंचकर ४०० ईसवी के आसपास ही रह जाता है। और चूँकि कालिदास ने कई प्रसंगों में वात्स्यायन के भावों का अनुकरण

[1] देखिए—'मेघदूत' की भूमिका; *JBBRAS*, १६, पृ० ३५-४३।

[2] *Ind. Ant.*, १६१६, पृ० ६६।

[3] मन्दसोर लेख, ३१ और ऋतु० २, ३; कीलहार्न—*Gott. Nach*, १८६०, पृ० २५१ आदि, ब्यूलर—*Die Indisction Inscrtften*, पृ० ७१; *JRAS*, १६०६ पृ० ४३३ आदि।

[4] *JRAS.*, १६०३, पृ० १८३ आदि; वही, १६०४, पृ० १५८।

किया है इसलिए वे वात्स्यायन के बाद ही रखे जा सकते हैं। वात्स्यायन का जीवनकाल साधारणतया तीसरी सदी ईसवी में माना जाता है। इस कारण हमारा कवि उसके बाद का ही ठहरता है, लगभग ४०० ई० का। इस निष्कर्ष से सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर[१], कीथ[२] और स्मिथ[३] सहमत हैं।

नीचे उन प्रमाणों का उल्लेख होगा जो कालिदास की गुप्त-कालीनता प्रायः सिद्ध कर देंगे। इनमें अधिकतर बिलकुल ही नए प्रमाण हैं जिनके बल पर कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य और कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के समकालीन प्रमाणित हो जाएँगे। आरम्भ में दो एक उन प्रमाणों का हवाला देंगे जिनको और विद्वानों ने भी प्रस्तुत किया है।

कालिदास की भाषा और भावों तथा गुप्तकाल के शिला-लेखों और स्तंभ-लेखों में अद्भुत समानता दिखाई पड़ती है जो केवल प्रासंगिक नहीं हो सकती। कभी-कभी तो ऐसे पद-पदान्त मिलते हैं जो सर्वथा समान रूप से दोनों में व्यवहृत हुए हैं। श्री चक्रवर्ती[४] और बसक[५] ने यह तुलना करके पूर्णरूप से दोनों की समानता स्थापित की है। इसी प्रकार डा० एफ० डब्ल्यू० टामस ने भी कालिदास के कितनों ही ऐसे पदों का निर्देश किया है जो 'गुप्' धातु[६] से बने हैं। और यद्यपि टामस साहब हमारे मत के नहीं हैं फिर भी उनके प्रयास से एक बात

[१] *JBBRAS*, ख. २०, पृ० ३६६।

[२] संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ८२।

[३] *E H I.*, पृ० ३२१।

[४] *JRAS.*, १६०३, पृ० १८३ आदि; १६०४, पृ० १५८ आदि।

[५] *Proceedings of the Second Oriental Conference*, पृ० ३२५ आदि।

[६] *JRAS.*, १६०६, पृ० ७४० आदि।

तो हमारे पक्ष में सिद्ध हो ही जाती है। वह यह है कि कालिदास को उन पदों के प्रयोग से स्नेह था जिनका निर्माण 'गुप्' धातु से संबद्ध है। यह गुप्तों की संरक्षता के कारण भी हो सकता है। कालिदास के ग्रन्थों में निर्दिष्ट गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक, ललितकला सम्बन्धी, भास्कर्य और वास्तु सम्बन्धी समानताएँ तो अनन्त हैं।[१] यहाँ पर इस प्रकार की केवल तीन समानताओं का उल्लेख करेंगे। गुप्तमुद्राओं के ऊपर छपे लेख—समरशत-विततविजयो जितरिपुर् अजितो दिवं जयति,[२] राजाधिराजः पृथिवीविजित्वा दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः।[३] क्षितिमवजित्य सुचरितैर् दिवं जयति विक्रमादित्यः,[४] आदि कालिदास के पुरा-सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः[५] से बहुत कुछ मिलते हैं। गुप्त मुद्राओं के ऊपर खचित मयूरारोही कार्त्तिकेय[६] शायद गुप्त सम्राटों के कुलदेवता थे। कालिदास ने कुमार और स्कन्द[७] का कई बार उल्लेख किया है और उनके 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन'[८] में तो मानो गुप्त सिक्कों का कार्त्तिकेयवाला अभिप्राय (Motif) अनूदित हो गया है।

---

[१]ये समानताएँ मेरे अप्रकाशित ग्रन्थ *India in Kalidasa* में पूर्णतया उपस्थित की गई हैं।

[२]समुद्रगुप्त, ध्वजाधारी, सामने की ओर।

[३]चंद्रगुप्त द्वितीय, अश्वमेध मुद्रा, सामने की ओर।

[४]वही, छत्र मुद्रा, सामने की ओर।

[५] शाकुन्तल, ७, ३७।

[६]कुमारगुप्त, मयूर-मुद्रा, पीछे की ओर।

[७]रघु० २-३, ३७, ७५, ३-१६, २३, ५५; ५-३६; ६-२, ४; ७-१, १५, ६१; ६-२४, २५, २६; १०-८३; १४-२२; कुमार०, ३-२४, २५, २६।

[८]रघु० ६, ४।

कालिदास के ग्रन्थों में देश और समाज में राजनीतिक शान्ति और आर्थिक समृद्धि पूर्णतया दृष्टिगोचर होती है। वैभव का जीवन, ललित कलाओं और साहित्य का व्यसन तथा जनता का सामाजिक और आर्थिक ऐश्वर्य पूर्णतया संरक्षित, पालित और वर्द्धित शासन में ही संभव है। और इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास का काल विभूतिजनक और प्रजावत्सल शासन का है। यह अवस्था उस काल में गुप्त शासन की थी।

धार्मिक सहिष्णुता जो गुप्त सम्राटों के लेखों में मिलती है और चीनी यात्री फाह्यान द्वारा वर्णित है कालिदास के ग्रन्थों द्वारा भी पूर्णतया समर्थित है। वे पौराणिक ख्यातियाँ और जन-विश्वास जिनके संदर्भ कालिदास में भरे पड़े हैं गुप्तकाल में संकलित हुए थे। हिन्दू देवप्रतिमाओं का अनन्त विस्तार गुप्त-काल और कालिदास के ग्रन्थों में समान वस्तु है। प्राग्गुप्त-काल में यक्षों और बुद्ध-बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं का ही आधिक्य था। कालिदास ने कुषाणकालीन शालभंजिका-यक्षी-मूर्तियों से संयुक्त रेलिंगों का उल्लेख किया है।[१]

काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने कालिदासविरचित 'कौन्तलेश्वर-दौत्य' नामक नाटक का उल्लेख किया है[२]। इसमें कालिदास का विक्रमादित्य द्वारा कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र) देश के राजा के पास दूत बनाकर भेजा जाना लिखा है। लौटकर जो कुछ कालिदास ने एक श्लोक में बताया है वह श्लोक राजशेखर के 'काव्यमीमांसा' भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगार-

---

[१] स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रांतवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥
रघु०, १६, १७।

[२] देखिए—क्षेमेन्द्र की—'औचित्यविचारचर्चा'।

प्रकाश' में भी मिलता है[1]। यह 'कौन्तलेश्वरदौत्य' नाटक स्वयं उपलब्ध नहीं। 'भरतचरित'[2] के अनुसार 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य की रचना कुन्तलेश ने की[3]। इसकी 'रामसेतुप्रदीप' नामक टीका से सिद्ध है कि 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन था जिसके काव्य को विक्रमादित्य ने कालिदास द्वारा युद्ध कराया। कुन्तल पर तब वाकाटक कुल का शासन था। उसी वंश का 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता और उसके दामाद वाकाटकराज रुद्रसेन का पुत्र और कुन्तल का राजा था। इसलिए कुन्तलेश प्रवरसेन, कालिदास और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य तीनों समकालीन हुए।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है हमारा कवि वात्स्यायन के पूर्व हुआ होगा क्योंकि उसने उसके शृंगारिक वर्णनों का अनुकरण किया है। वात्स्यायन का काल विद्वानों ने ईसा की तीसरी सदी में निश्चित किया है। इधर ख्याति-परम्परा से कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए। परन्तु ईसा की तीसरी सदी के बाद और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

---

[1] असकल हसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्त कर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणाम्
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥

[2] त्रिवंद्रम सीरिज़ का—सर्ग १
जडाशयास्यान्तरगाधमार्गमलब्धरन्ध्रं गिरि चौर्थवृत्या।
लोकेष्वलंकान्तमपूर्वसेतुं बबन्धकीर्त्या सह कुन्तलेशः॥

[3] देखिए बाणभट्ट का हर्षचरित—
कीर्तिप्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेय सेतुना॥

के पहले चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिवा और कोई विक्रमादित्य नहीं इसलिए कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन और लगभग ४०० ईस्वी के होना चाहिए।

कालिदास को ग्रीक ज्योतिष के लाक्षनिक शब्द 'जामित्र'[1] (*Diametron*) का ज्ञान है। इसलिए इस कवि को गुप्तकाल में ही होना चाहिए जिससे ग्रीक ज्योतिष शब्दों के देश में प्रथम परिचित और पूर्णतया प्रचारित होने में अन्तर का पूरा अवकाश मिल सके।

हूणों को रघु ने उनके स्वदेश, वंक्षुतीर, पर पराजित किया। उस घाटी में हूण लगभग ४२५ ईस्वी में बसे थे जब बहरामगौर के विजयी होने पर फ़ारस और हूणों की सीमा वंक्षु नदी हुई थी। बल्ख की विजय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने की थी जैसा चन्द्र के मेहरौली लौहस्तंभ से सिद्ध है। जान पड़ता है 'रघुवंश' ४२५ ईस्वी के तुरत बाद लगभग ४३० के रचा गया। और 'रघुवंश' कवि की मेधा का पूर्ण विकसित रूप होने से कदाचित् उसकी अन्तिम रचना थी।

नीचे भास्कर्य (*Sculpture*) सम्बन्धी कुछ प्रमाणों को रख देना भी युक्तिसंज्ञक होगा।

कालिदास ने शाकुन्तल में भरत की बतख़ आदि की तरह की गुँथी उँगलियोंवाले हाथ (जालग्रथितांगुलिः करः[2]) का वर्णन किया है। जालग्रथितांगुलिकरोंवाली मानव प्रतिमाएँ नितान्त न्यून हैं और जो एकाध हैं भी वे केवल गुप्तकाल की हैं। मानकुवर बुद्ध जो लखनऊ पुरातत्त्व संग्रहालय में है[3]

---

[1]कुमार० ७, १।

[2]७, १६।

[3]मानकुवर बुद्ध की ओर मेरा ध्यान लखनऊ प्रांतीय संग्रहालय के अध्यक्ष डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने आकर्षित किया।

उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है। इसकी उँगलियाँ जालग्रथित हैं। परन्तु इससे भी स्पष्ट उसी संग्रहालय की अन्य प्रतिमाएँ (नं० बी० १० और दूसरी एक फुट ऊँची अभय मुद्रा में सिंहासन पर बैठी) हैं। और चूंकि साहित्य में केवल कालिदास ऐसी उँगलियों का वर्णन करते हैं और भास्कर्य में केवल गुप्त-काल में ऐसी प्रतिमाएँ कोरी गई हैं, दोनों गुप्तकाल के ही हैं।

कालिदास ने चमरधारिणी[1] गंगा और यमुना का उल्लेख किया है। इन नदियों का यह चमरीवाही प्रतिमा-रूप कुषाण-काल के अन्त और गुप्तकाल के प्रारंभ में प्रगट हुआ है। ये मूर्तियाँ मथुरा[2] और लखनऊ[3] के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। समुद्रगुप्त के सिंहप्रतीक सिक्कों पर पीछे की ओर गंगा की मूर्ति खचित है।[4]

प्राक्-कुषाणकालीन मूर्तियों के छत्र पश्चात्काल में प्रतिमा के पृष्ठ-भाग से उठते हुए प्रभामण्डलों (Halo) के रूप में बदल गए, शायद Relief की दिक्कत के कारण। कुषाणकालीन प्रभामण्डल सादे या कभी-कभी एक किनारे पर लहरिया रेखा से प्रस्तुत होते थे। बाद, गुप्तकाल में, इन प्रभामण्डलों पर विशेष ध्यान देकर उन्हें अनेक अभिप्रायों (Motifs) से भर दिया गया। इनमें प्रकाश की लहरें विशेष उल्लेखनीय हैं। मूर्तिकला का यह विशेष विकास और प्रभामण्डल की ज्वाला-मयी स्फुरित रेखाओं ने कालिदास को खास तौर पर आकर्षित किया। इस काल के छायामण्डल या प्रभामण्डल को कालिदास

[1]कुमार०, ७, ४२।

[2]नं० १५०७ महोली से प्राप्त गंगा की मूर्ति और नं० २६५६ कटरा केशवदेव से प्राप्त यमुना की।

[3]यमुना नं० ५५६३।

[4]देखिए *Allen* पृ० *LXXIV*.

ने एक लाक्षणिक नाम—स्फुरतप्रभामण्डल[1]—दिया जो पहले प्राप्य न था। इस प्रकार के इन प्रभामण्डलों पर बनी तम दूर करनेवाली वाणरूपिणी प्रकाश-रश्मियाँ लखनऊ संग्रहालय की गुप्तकालीन अनेक मूर्तियों में देखी जा सकती हैं। नं० बी० १०, जे० १०४, जे० ११७ और बी० ३५६ पर तो मानो कवि का वर्णन सजीव हो उठा है।

कुमारसंभव में वर्णित[2] शिव की समाधि कुषाणकालीन वीरासनमुद्रा में बैठी बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं में अद्भुत समानता है।

ऊपर दिए प्रमाणों से यह सिद्धान्त सर्वथा सिद्ध हो जाएगा कि कालिदास गुप्तकालीन कवि थे। जो शान्ति उनके काव्यों में दर्शित है वह कालिदास को स्कन्दगुप्त के राज्यकाल और कुमारगुप्त के शासनकाल से विलग कर देती है क्योंकि तब पुष्यमित्रों और हूणों के उपद्रव प्रारम्भ हो गए थे। इस कारण कालिदास के काल की पिछली अन्तिम सीमा ४४६ ईस्वी में निर्धारित की जा सकती है क्योंकि ४५० ई० पुष्यमित्रों के युद्ध का समय है[3]। परन्तु यदि कवि ने कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों की ओर अस्पष्ट रूप से संकेत किया है तो संभव है कि वे स्कन्दगुप्त के जन्म तक जीवित रहे हों। कालिदास ने काफ़ी लिखा है और उनके ग्रन्थों की सीमाएँ विस्तृत हैं। यदि मानें कि वे वृद्धावस्था तक जीवित रहे, सम्भवतः सत्तर साल तक, तो ४४५ ई० के आसपास उनकी मृत्यु मानते हुए उनका जन्म संवत् हम ३७५ ई० के निकट रख सकते हैं। इस प्रकार समुद्रगुप्त के शासनकाल के अन्त में जन्म लेकर संभवतः वे चन्द्रगुप्त

[1] रघु० ३, ६०; ५, ५१; १४, १४, कुमार०, १, २४।

[2] ३, ४४-५०।

[3] स्मिथ, *E. H. I*, पृ० ३२६।

द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल की पूरी दौरान में और कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य के राज्य काल के एक बड़े भाग तक जीवित रहे। तब उन्होंने स्कन्दगुप्त का जन्म भी देखा ही होगा क्योंकि पुष्यमित्रों को पराजित करते समय स्कन्दगुप्त की आयु कम से कम बीस वर्ष की तो अवश्य रही होगी। और यदि कालिदास ने कवि का जीवन अपने पचीसवें वर्ष से आरम्भ किया तो उनका 'ऋतुसंहार' संभवतः ४०० ई० के लगभग लिखा गया होगा और उनका क्रियात्मक-काल उस लम्बे समय से संबद्ध होगा जिसे इतिहासकार भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं।

६

उड़ीसा के मंदिरों के शृंगारिक दृश्य

भारतीय इतिहास के मध्यकालीन हिंदू युग में उड़ीसा वास्तु-संबंधी शिल्पकर्म का प्रधान केंद्र बन गया। अद्भुत ढाँचे तैयार कर कुशल शिल्पियों ने अनेक विशाल गगनचुंबी मंदिर खड़े किए। उनके भग्नावशेष आज भी पुरी जिले के लिए विशेष गौरव की वस्तु हैं। केवल भुवनेश्वर में शैव और वैष्णव संप्रदायों के लगभग डेढ़ सौ मंदिर आज भी खड़े हैं और उनका भग्नावशिष्ट परिवार काल पर व्यंग्य करता है। भुवनेश्वर के इन अनेक भग्न देवालयों में कुछ ऐसे भी हैं जो भारतीय वास्तुकला के आश्चर्य और उड़िया भास्कर्य के चूड़ामणि हैं। परशुरामेश्वर और मुक्तेश्वर के शिखरों ने पहले मस्तक उठाए। परंतु उनके तुरंत ही बाद खड़े होने वाले लिंगराज के मंदिर ने उन्हें अपने प्रताप से सर्वथा ढँक लिया। भुवनेश्वर की वास्तु-शैली में लिंगराज का यह विशाल मंदिर उड़ीसा का एक उन्नत कीर्तिस्तंभ है। इसका ढाँचा तो अद्भुत है ही, इसका विशिष्ट

सौंदर्य भी इसके विस्तार के मंडन में लक्षित होता है। इसके बाह्य शरीर के कण-कण को शिल्पियों ने संख्यातीत सजीव प्रतिमाओं से सजाया है। इसका एक-एक अलिंद जीवित है। आश्चर्यजनक पटुता से आकृतियों का अनंत प्रसार दृष्टिपथ में उठता जाता है। इस शृंखला की प्रत्येक कड़ी, प्रत्येक आकृति, आकर्षक है। परंतु कहीं भी उनकी समानता से दर्शन-लालसा तृप्त होकर नहीं अलसाती, क्योंकि विविधता उनका प्राण है— प्रत्येक आकृति आकर्षक है, प्रत्येक आकृति परस्पर भिन्न। भिन्न-परक इस अनंत शृंखला की कड़ियाँ दृष्टिपथ को बाँध-सा लेती हैं, और मानव-हृदय आनंद-विभोर हो उठता है। फ़र्गुसन ने सच कहा था कि "यह कहना कुछ अत्युक्ति न होगा कि यदि ऐसी इमारत को बनाने में एक लाख रुपए (अथवा पाउंड) लगें तो इसमें संदेह नहीं कि इसके बाह्य सौंदर्य को उत्कीर्ण करने में तीन लाख लगेंगे"[१]। भारतीय वास्तु के प्राथमिक समीक्षक फ़र्गुसन के इस वक्तव्य में अतिरंजन का आभास तक नहीं। लिंगराज के मंदिर का बाह्य अलंकरण कुछ ऐसा ही मूल्यवान है, ऐसा ही श्लाघ्य !

भुवनेश्वर से थोड़ी ही दूर पर, उसी पुरी ज़िले के कनारक में सूर्य का अप्रतिम मंदिर (कोणार्क) खड़ा है। क्या वास्तु-कौशल की विस्मयजनक क्षमता, क्या उत्कीर्ण आकृति की ओजस्विता, क्या प्रधान प्रतिमा की अपार्थिव शक्यता और किंकर-देवताओं का कर्तृत्व सब एक साथ एक अंतर्भूत पिरोई शक्तिसूत्र के सहारे मानो दर्शक-जगत को विस्मित, चकित कर देते हैं। निर्जीव पाषाण किस प्रकार सतत जागरूक वाक्प्रगल्भ मानव को मूक और स्तब्ध कर देता है, यह कोई वहाँ जाकर देखे। परंतु क्या उड़ीसा की कला का यह अद्वितीय रत्न यथार्थ में मूक है ? जब

[१] *A History of Indian And Eastern Architecture*, पृ० १०१

मानव ऊपर दृष्टि फेंक ऊर्ध्वमुख हो स्थिर हो जाता है तब प्रत्येक उत्कीर्ण आकृति एक अजीब गति धारण करती है, प्रत्येक में एक अद्‌भुत तेज़ी भरने लगती है। अश्वों का अकृत्रिम ओज, सिंहों का दुर्दांत विक्रम, नवग्रहों की निःशब्द परंतु सवेग गति, मास और ऋतु-चक्रों के मूक निरंतर ऊर्ध्व और अधोगत चक्कर, मानवी आधार-बंध से उठते वासनामय द्वन्द्वों के आकर्षक अनुनय—सब एक प्राण हो उस विशाल प्रस्तर समूह में चेतनता का सृजन करते हैं, और चकित मानव अंतर्मुख हो खो जाता है। कनारक का यह गगनभेदी मंदिर एक अनंत सिकताप्रसार पर खड़ा है, नीले आकाश की गोद में शिर डाले वेग से टूटती बंगाल की खाड़ी की अनवरत वेलाओं के मस्तक पर चरण रोपे। सागर की इन खारी लहरियों का इस मंदिर को भग्न करने में काफ़ी हाथ रहा है। नीरव काल और उच्चरव सागर के षड्‌यंत्र से कोणार्क का वह गौरव आज अवश्य विशीर्ण हो गया है जो कभी उसका था, परंतु फिर भी शिखर-दंड के सम्मुख तोड़, विषम-अविषम गति वाले वे प्रसार खंड कोणों के गोल कर्त्तन और मोड़ अब भी सौंदर्य के वे स्कंध हैं जो इस भग्न मंदिर को विश्व के विख्यात वास्तु-विस्मयों में एक उन्नत स्थान दिलाते हैं।

वास्तु क्षेत्र में ह्रास के बाद उत्थान का युग आया, तभी पुरी के बाद कनारक चमका। आश्चर्य की बात है कि जिस शताब्दी में पुरी के जगन्नाथ मंदिर-सी ओछी कलाकृति का जन्म हुआ उसी में कनारक के उस अद्‌भुत सूर्य-मंदिर का प्रादुर्भाव भी हुआ। पुरी का जगन्नाथ मंदिर उड़िया कला का कलंक है, और कोई उसकी तुलना कनारक और भुवनेश्वर के प्रसिद्ध मंदिरों से नहीं कर सकता, फिर भी यह आश्चर्य का विषय है कि ख्याति और पावनता में किस प्रकार इसने उन सौंदर्य के

प्रतीकों को अपने बहुत पीछे छोड़ दिया। पावनता में यह जगन्नाथ का मंदिर केवल काशी के विश्वनाथ मंदिर से घट कर है। इसकी इस प्रसिद्धि का कारण क्या है? स्वर्गीय राखाल-दास बंद्योपाध्याय ने इसका कारण उत्कट प्रचार (प्रापेगंडा)[1] बताया है। यह संभव है, परंतु यह विषयांतर है और हम इस पर विचार न करेंगे।

इस समय हमारा विचारणीय विषय दूसरा ही है। जगन्नाथ, कनारक और भुवनेश्वर के कतिपय मंदिरों में वास्तु-शैली के अतिरिक्त एक और अजीब विशेषता है। उनमें एक विशेष प्रकार के अलंकार का उपयोग किया गया है, जिसने भारतवर्ष के असंख्य श्रद्धालु उपासकों के हृदयों में सदियों तक आतंक और विस्मय का सृजन किया है। चकित दर्शक और धर्मांध उपासक दोनों इन संख्यातीत शृंगारपरक दृश्यों को देखकर स्तब्ध रह जाते हैं जो मंदिर के विमान और जगमोहन दोनों की दीवारों पर बाहरी और ताकों की एक अनंत शृंखला में उत्कीर्ण हैं। मानववासना के ये मुक्त चित्र जगन्नाथ के मंदिर पर कुछ निस्तेज और अनाकर्षक लगते हैं परंतु भुवनेश्वर के कुछ मंदिरों पर वे अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। कनारक के मंदिर पर तो इनकी क्षमता सजीव हो उठती है। वहाँ इनकी भंगियों की ओजस्विता और कामोन्मादक शक्ति की मनुष्य केवल सराहना ही नहीं करता वरन् उनके मोहक, विक्षेपक प्रभाव से वह त्राण भी माँगता है। इन उत्कीर्ण चित्रों में से कुछ मनुष्याकार हैं परंतु अधिकतर छोटे और ताकों में हैं। उनकी विदग्धता में एक अजीब मौलिकता का आभास मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि इस संपूर्ण शृंखला में कामुकता नग्न तांडव करती है और अप्रयास हृदय में यह प्रश्न उठता है कि इन पावन देवा-

[1] '*History of Orissa*', खंड २, पृ० ३७१।

लयों की भित्ति पर, विशेषकर पूतातिपूत इस विष्णु के अवतार श्री जगन्नाथ के मंदिर पर इन हृदयग्राही परंतु अश्लील प्रस्तर-चित्रों के बनाने का क्या तात्पर्य था। इस शंका के समाधान के लिए वह भारतीय कला के समीक्षक पंडित फर्गुसन, स्मिथ, कुमारस्वामी, बंदोपाध्याय, चंदा और बसु के ग्रंथों को देखता है, परंतु उसका उत्तर वहाँ नहीं मिलता। इनमें से अनेक विद्वानों ने तो इन शृंगारचित्रों की ओर संकेत तक नहीं किया है, यद्यपि इनकी संख्या हजारों में है। इस लेख में एक सिद्धांत प्रस्तुत किया जाता है जो संभवतः इस कठिन प्रश्न पर प्रकाश डाल सके। वर्तमान लेखक के सामने दो युक्तियाँ आती हैं जो साधारणतया परस्पर-विरोधी सी प्रतीत होती हैं तथापि दोनों के समन्वय से कदाचित् कुछ अर्थ सिद्ध हो सके।

पहली युक्ति को रखते समय बौद्ध और शैव संप्रदायों की प्रगति पर दृष्टिपात आवश्यक होगा।

तथागत बुद्ध के निर्वाण के शीघ्र बाद बौद्धधर्म की जिस शाखा का विशेष रूप से प्रचार था उसे संकेततः हीनयान कहते हैं। इस शाखा के उदय और मध्याह्न के समय तक अभी बुद्ध देवों की परंपरा में अभिषिक्त न हुए थे। देव-प्रतिमाओं की अनत श्रेणी में उनका जन्म अनिवार्य अवश्य था, परंतु वह अभी भविष्य की एक घटना थी। उनके अपने ऐतिहासिक कायिक महत्व से कहीं बढ़ कर उनके उपदेश थे। परंतु जब अकायिक सूक्ष्मता से भौतिक स्थूलता की ओर धार्मिक भावों और विश्वासों का मुँह फिरा तब बुद्ध की आंशिक आकृति जहाँ तहाँ झलकने लगी। परंतु अभी तक वह पद्मासन मारे ध्यान अथवा अनेक मुद्राओं में बैठी या खड़ी बुद्ध प्रतिमा न कोरी गई। इस समय तक रेलिंग स्तंभों के बीच के सूचि-प्रस्तरों पर केवल उनके उष्णीष, चरण, धर्मचक्रप्रवर्तन में स्थित कर, भिक्षा-पात्र, बोधि-

वृक्ष और चैत्य आदि चिह्न ही उत्कीर्ण और पूजित होते थे। परंतु उस मानव बुद्ध का आगमन भी दूर न था। उस भक्त-वत्सल भगवान की, जिसकी रक्षा में भवसागर के कष्टों से भाग कर निःशंक श्रद्धालु उपासक शरण ले, नितांत आवश्यकता प्रतीत हुई और फलस्वरूप महायान का उदय हुआ। इस नए भक्ति-संप्रदाय का प्रसार ईसा की प्रथम शताब्दी में बड़े वेग से प्रारंभ हुआ। पार्श्व और अश्वघोष की ओर उपासकों की आँखें लगी थीं, नागार्जुन ने उन्हें आलोक दिया। पहले से ही श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धांत ने भक्ति-संप्रदाय के लिए क्षेत्र निर्मित कर दिया था, जिसमें बहुत पूर्व का बोया हुआ बीज अंकुरित हुआ और महायान का पौदा धीरे-धीरे जड़ पकड़ने और बढ़ने लगा। मानव बुद्ध का अभिजनन हुआ और हिंदू आर्यों की देवशाला जो बहुत कुछ पहले से ही प्रतिमाओं से स्नेह रखती थी अब अनंत संख्या में कोरी जाने वाली बुद्ध की मूर्तियों से भर चली। यह तथागत बुद्धदेव अकेला नहीं आया, उसके साथ ही अनेक किंकर देवों, बोधिसत्त्वों और अर्हतों का भी प्रादुर्भाव हुआ। परंतु यह नवीन संप्रदाय वहीं न रुक कर आगे बढ़ा क्योंकि वह वहीं किसी प्रकार ठहर नहीं सकता था। श्रद्धा और उससे प्रादुर्भूत पूजा कुछ और भी उत्पन्न करती हैं—गौण, किंकर देवताओं और धार्मिक अस्पष्ट आकृतियों का एक परिवार और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण विधि-क्रियाओं की एक अनंत शृंखला!

जैसे-जैसे यक्ष, किन्नर आदि अर्धदेवों की संख्या बढ़ी, वैसे ही संख्यातीत मात्रा में धार्मिक विधि-क्रियाओं का प्रजनन हुआ और इन उलझी-सुलझी क्रियाओं के साथ ही उनमें मनोयोग से प्रयोग करने वाले रहस्यमय मंत्रयानी आए। ऐतिहासिक बुद्ध सर्वशक्तिमान देवता बने और बौद्धधर्म एक अजीब अलौकिक युग में प्रविष्ट हुआ, जिसके सूत्रकार बने कुछ भेद भरे अभ्यस्त

प्रयोगी। लंबे 'सूत्रों' को और छोटा कर लिया गया, फिर उन्हें भी और घाट कर 'मंत्रों' का निर्माण हुआ। लगभग इसी समय के 'योग' का प्रयोग स्थूल और अधिकाधिक लाभकर कायिक प्रक्रियाओं में होने लगा। हठयोग अपनी घोर यातना भरी प्रक्रियाओं से दर्शकों में आतंक भरने लगा। मंत्रयान के सिद्ध और प्रक्रियाओं के वे भेदभरे साधक विहारों में बैठ-बैठ हठयोग की क्रियाओं द्वारा कुछ अलौकिक शक्तियों का संचय करने लगे। मोहन और उच्चाटन की क्षमता उनमें आने लगी। इन प्रक्रियाओं की शक्ति कुछ वैसी ही थी जैसी आज भी हम मेस्मेरिज्म और हिप्नाटिज्म के अभ्यासियों में पाते हैं। हठयोग का जादू चल पड़ा। मठों और विहारों के प्रांगण सिद्धों के प्रयोगों से चकित, विक्षिप्त, मुग्ध नर-नारियों से भर चले। सीधे अक्रिय उपासक मोहन के प्रभाव से इन सिद्धों के दास बन गए। विहारों में धन बरसने लगा और मठों के उन निम्न-कक्षा-गह्वरों में सुन्दर तरुणियों के समुदाय संकेतमात्र से नीयमान अंधे की नाईं चुपचाप बढ़ते जाते, जिनके तमपूरित कोनों में पाप भक्ति का बाना पहने बैठा रहता। इन श्रद्धालुओं के पहुँचते ही वह उन्हें आत्मसात कर लेता। हठयोग, मंत्र और मैथुन मंत्रयान के त्रिपाद बन गए।

परन्तु उससे भी कहीं घृणित प्रयोगों का युग अभी निकट भविष्य में आनेवाला था। अंधक-निकायों और वैपुल्यवाद ने पहले ही स्त्रीप्रसंग को सराहा था, अब लगभग ईसा की सातवीं शताब्दी में उड़ीसा के श्रीपर्वत पर कामुकता का विपुल घटा गंभीर स्वर से बज उठा। उड़ीसा की रहस्यमय प्रयोग-बीथी पर अपना वह भेदभरा 'भैरवी-चक्र' डाल समाज के प्राचीन स्तरों को चुनौती देता हुआ वज्रयान आरूढ़ हुआ। इसके सिद्धों ने खुले आम स्त्रीप्रसंग की प्रशंसा की और उनके अपने घृणित

प्रयोगों ने स्वयं कामुकों में साहस भर दिया। चौरासी सिद्धों की संख्या ने रति-शैली की संख्या पर अपनी छाप डाली। इन सिद्धों के जीवन पर मंत्र, हठयोग, मद्य और मानिनियों का विशेष रंग चढ़ा। 'मालती-माधव' में भवभूति द्वारा निर्दिष्ट वह श्रीपर्वत वज्रयानियों का निवास बन गया और वहाँ उनके निवास के कारण ही उसे वज्रपर्वत[२] की संज्ञा मिली। इसी पर्वत पर तंत्र-रहस्य के अनेक ग्रंथों की रचना हुई। उनमें से कुछ ये हैं—'मायाजालतंत्र', 'गुह्यसमाज-तंत्र', 'महासमयतत्त्व', 'भूतचामर', 'वज्रामृत', 'चक्रसंवर', 'आदर्शचक्र', 'मेरुकाभ्युदय', 'महामाया', 'पदनिःक्षेप', 'चतुष्पट्ट', 'परमार्द', 'मराच्युद्भव', 'सर्वबुद्ध', 'सर्वगुह्य-समुच्चय', 'मायामारीचिकल्प', 'हेरंबकल्प', 'त्रिससयकल्प', 'राजकल्प', 'वज्रगांधारकल्प', आदि[३]।

वज्रयानी तर्क के अन्तिम छोर तक जा पहुँचे। उन्होंने पत्नी, माता, भगिनी और पुत्री में अंतर न डाला, नारी जातिमात्र उनकी इन्द्रियलालसा की अभितृप्ति का साधन बनी। 'गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़' में प्रकाशित 'गुह्यसमाजतंत्र'[४] में इन सिद्धों की प्रक्रियाएँ और उनका रहस्यमय इंद्रियलालुप विलासी-जीवन समुचित रूप से वर्णित है। परंतु यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि एक ओर जहाँ ये वज्रयानी सिद्ध वासना के खुले उपासक थे दूसरी ओर वहीं वे अध्यात्म साहित्य के प्रकांड पंडित भी थे। आन्वीक्षिकी पर उनकी वाग्धारा कभी न रुकती थी। आन्वीक्षिकी, हठयोग और मोहनादि प्रयोगों के बल पर

---

[१]अंक १, ७, १०

[२]महायान और वज्रयान पर श्री राहुल सांकृत्यायन का लेख, 'गंगा', (पुरातत्त्वांक), पृ० २१८।

[३]वही

[४]पृ० ९४, १२०, १३६

उन्होंने देश में अपनी वह धाक बैठा दी थी जिसका लोहा राष्ट्र का सर्वोन्नत प्राणी राजा स्वयं मानता था। उसमें भी इन सिद्धों का विरोध करने की क्षमता न थी और यदि वे उससे उसकी पुत्री अथवा पत्नी भी माँगते तो उसे इन्कार करने का साहस न हो सकता था। ग्यारहवीं सदी तक इन सिद्धों की संख्या चौरासी तक पहुँच गई। और ठीक यही वह समय था जब उड़ीसा के अधिकतर कामचिह्नित मंदिर, विशेषकर पुरी और कनारक के मंदिर बने।

अब तनिक भारतवर्ष के पूर्वी छोर पर दृष्टि डालें। पूर्वी बंगाल में शाक्त संप्रदाय उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। वहाँ तंत्र-योग का साम्राज्य था। आगम साहित्य काफ़ी पुराना है और कुछ आगम और तंत्र तो शायद ईसा से पूर्व की शताब्दियों तक के हैं। स्वयं शक्ति की उपासना भी अति प्राचीन है। ऋग्वेद में ही वागंभृणी विश्व की शासन-डोर अपने हाथ में धारण कर लेती है। वह कहती है—'अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवाऊ'[1]। परंतु कामरूप का शाक्त-संप्रदाय लगभग तभी विशेष रूप से वहाँ फैला जब उड़ीसा में वज्रयान का समुद्र लहराने लगा। शाक्तधर्म का प्रचार भी बहुत कुछ वज्रयान के ही अनुरूप हुआ और जब बोधिसत्त्व की पत्नी तारा, जो बौद्धों की प्रज्ञापारमिताओं में से एक थी, स्वयं एक 'शक्ति' मान ली गई और जब उसकी आराधना शाक्तों ने प्रारंभ कर दी, तब तो दोनों संप्रदाय बहुत ही निकट आ गए। शाक्त संप्रदाय में भी वज्रयान की ही भाँति अनेक परिवर्तन होते गए। तांत्रिकों से कापालिक निकले और फिर वे अघोरपंथी आए, जिनके काम और वासनायुक्त आचरण सर्वथा वज्रयानियों के-से थे। धीरे-धीरे मनुष्य-संभूत देवी ने प्रतिमा (विग्रह) का स्थान

[1]ऋग्वेद, १०, १२५

लिया और यह विजयी तंत्रसंप्रदाय कामाख्या पर्वत से पश्चिमाभिमुख हो विंध्याचल और काशी की ओर बढ़ा। आज भी काशी का नैपाली मंदिर कामपरक अपने काष्ठचित्रों द्वारा उस संप्रदाय की महत्ता घोषित करता है। तांत्रिक संप्रदाय ने अनेक रूप धारण किए जिनमें से दो 'सहजनिया' और 'मरमिया' थे, जिनका वर्णन महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने अपने 'बेनेर मेये' नामक उपन्यास में किया है।

इस प्रकार जब उड़ीसा के उठते हुए मंदिर अपनी भित्तियों पर इन कामचित्रों का वसन धारण कर रहे थे, ठीक उसी समय आंध्र, उड़ीसा, बंग और आसाम (कामरूप) धर्म का एक प्रसार बन चुका था जिसके रंगमंच पर भेदभरे सिद्ध मदिरा और नारी के साधनों से अनेक रूप धारण कर रहे थे। इस एक भूखंड के अनन्य सांस्कृतिक शासक वज्रयान भिक्षु थे। क्या इन सर्वशक्तिमान सिद्धों का हाथ, जो तत्कालीन धर्म के प्राणबिंदु थे तब के बनते हुए मंदिरों के ढाँचों के निर्माण में न रहा होगा? इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि मंदिर सांप्रदायिक शक्ति के स्मारक स्तंभ होते हैं और तब के उड़ीसा के धर्म-संप्रदायों के प्रचालक-पीठ और प्रमुख सूत्रधार ये वज्रयान सिद्ध थे। इस कारण यह मानना असंभव है कि उनके विश्वास और आचरणों की छाप इन मंदिरों की दीवारों पर न उतर गई हो।

एक विचारणीय बात और है। विष्णु के प्रत्येक अवतार के लिए एक स्थान-विशेष पुनीत माना गया है। राम की अयोध्या और कृष्ण के मथुरा-वृन्दावन ऐसे ही विशिष्ट पावन स्थल हैं। उसी प्रकार पुरी वह पुनीत स्थान है जहाँ विष्णु के जगन्नाथ रूप का अवतरण हुआ था, और विष्णु-जगन्नाथ की यह कला बुद्ध में उत्तरी थी। इस प्रकार यहाँ विष्णु के बुद्धावतार की महत्ता है और पुरी का जगन्नाथ-मंदिर बुद्ध-निवास है। विष्णु

के जिस रूप की जहाँ विशेषता है उसे दर्शाने के लिए वहाँ उस रूप का कोई न कोई सांकेतिक निदर्शन अवशिष्ट है। बुद्ध ने वर्ण-धर्म को चुनौती दे कर पतितोन्मुख मनुष्य को परस्पर समान किया था, उसके व्यक्तित्व की रक्षा की थी। हिंदू अवतार-शृंखला की बुद्ध वाली कड़ी इसी हेतु जोड़ी गई है। बुद्ध के इसी रूप की जयदेव आदि वैष्णव स्तुति करते हैं। इसी कारण इस मानवमात्र की समानता घोषित करने वाले सिद्धांत को एक विशेष रूप से पुरी में महत्व दिया है। पुरी के जगन्नाथ-मंदिर की दीवारों के भीतर किसी प्रकार का वर्ण-भाव नहीं बरता जाता। बुद्ध के उपदेश के अनुसार वहाँ अंत्यज और ब्राह्मण बराबर समझे जाते हैं। बुद्ध ने वर्ण-धर्म को धिक्कारा था, और मानव-धर्म में एक अद्भुत समता का आदर्श रक्खा था। यही बुद्धावतार की विशिष्ट भावना पुरी के विष्णुमंदिर में सुरक्षित रह सकी। समाज की स्थिति के संबंध में बुद्ध का यही उपदेश विशिष्ट रूप से मान्य हो भी सकता है। संभव है और उपदेशों पर सांप्रदायिक सिद्धांतों के अनुसार आक्षेप किए जायँ, परंतु यह समानता का सिद्धान्त सर्वथा स्तुत्य और सर्वमान्य है। फिर एक ऐसे मंदिर के निर्माण में जिसका देवता बुद्ध हो, वज्रयानियों का हाथ क्या न रहा होगा? युक्ति-युक्त बात तो यह है कि इस बुद्ध-मंदिर के संबंध में बौद्ध-पुजारियों का प्राधान्य रहा होगा, और तब के बौद्ध धर्म का प्रधान सम्प्रदाय वज्रयान उड़ीसा के धार्मिक जीवन का प्रमुख ही नहीं एकमात्र शासक था। तब वज्रयान का सूर्य उड़ीसा की मूर्धा पर मध्याह्न के तेज से तप रहा था। यह वह मौक़ा था, जब भापमयी वासना भी पुण्यात्मक धर्म का एक अंग बनाई जा सकती थी। वज्रयानी इस बात को जानते थे कि उनका तूती सदा न बोलता रहेगा। ज्ञानसूर्य का जब उदय होगा, अंधकार

तब छूट जायगा, और उनकी सत्ता नष्ट हो जायगी। जनता की सांस्कृतिक क्रांति कभी न कभी होगी ही। और उस विप्लव को और दूर हटा देने के निमित्त वज्रयानियों ने मंदिर के निर्माताओं को अपनी ओर खींच लिया। फिर उन्होंने उस समय के बनने वाले उड़ीसा के मंदिरों पर अपनी कामुकता की छाप डाल दी, जिससे बाद की जनता भी उनके आवरण को पूजा का अंग समझे और क्रान्ति न करे।

दूसरी युक्तिपूर्ण कल्पना जो इसके विश्लेषण में की जा सकती है वह नीचे दी जाती है।

कुछ लोगों[1] का विचार है कि इन शृंगारिक दृश्यों का कारण और है, वह यह कि उड़िया जनता का यह विश्वास है कि जिन मंदिरों पर इस प्रकार के काम-चित्र नहीं उनसे जन-कल्याण नहीं हो सकता। परंतु यह तर्क सर्वथा अनुचित है क्योंकि इस प्रकार के दृश्य केवल उड़ीसा के मंदिरों पर ही उत्कीर्ण नहीं हैं। यदि यह बात होती तो ये केवल उड़ीसा के ही मंदिरों पर होते। किंतु ऐसा है नहीं। खजुराहो के चंदेल-मंदिर, एलोरा का कैलाश और काशी का नेपाली मंदिर सभी इस प्रकार के काम-चित्रों से भरे हैं। सच तो यह है कि कला में नग्न सौंदर्योपासना बहुत पुरानी है। प्रमाण इस बात का उपलब्ध है कि इस प्रकार के उल्लेख्य कला में वज्रयानियों से बहुत पूर्व के हैं और उड़िया प्रभाव से सर्वथा स्वतंत्र। परंतु इस बात को न भूलना चाहिए कि तांत्रिक-भास्कर्य में इसका विशिष्ट आगार-रूप वज्रयान के तांडव के बाद ही प्रतिष्ठित हुआ। ऊपर के सिवाय उड़ीसा से बाहर के मंदिरों के सारे कामुक दृश्यों का उत्कीर्णन वज्रयान के बाद ही है। इनमें से एक भी छठी शताब्दी अथवा उससे पूर्व का नहीं है।

[1] राय, 'कोणार्क' [बँगला में लिखी एक पुस्तिका]।

कला में नग्नता का प्रादुर्भाव किसी न किसी रूप में द्वितीय शताब्दी ई० पू० में ही हो गया था। भारतीय विचारों में बहुत पूर्व यक्ष और यक्षिणियों की कामुक मूर्तियां घर कर चुकी थीं। शुंग काल से ही सांची और भरहूत स्तूपों के रेलिंग-स्तंभों पर वासनामयी अर्धनग्न यक्षिणियों की मूर्तियाँ तक्षित होने लगीं। कुषाण और गुप्तकाल में यह यक्ष-यक्षिणियों का काम-प्रमत्त परिवार खूब फूला-फला। मथुरा और लखनऊ के संग्रहालय कुषाणकालीन नग्न यक्षीमूर्तियों से ढके रेलिंगों से भरे पड़े हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समकालीन संस्कृत के अमरकवि कालिदास ने अपने 'मेघदूत' के लिए एक यक्ष को नायक बनाया। स्वयं वह शृंगारिक कवि इन नग्न यक्षी-प्रतिमाओं की भावभंगियों से न बच सका और 'रघुवंश' के एक विशिष्ट अंश में उसने अयोध्या के राजप्रासाद के खंडहरों का वर्णन करते हुए रेलिंग-स्तंभों के ऊपर बनी 'योषित्प्रतियातनाओं'[1] की ओर संकेत कर ही दिया। इस प्रकार कुषाण और गुप्तकाल तक यक्ष और यक्षिणियाँ प्रेम और काम दोनों का प्रतीक बन चुकी थीं। कुषाणकालीन रेलिंग-स्तम्भों पर जो यक्षी-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं वे सर्वथा नग्न हैं। केवल पैरों पर एक वस्त्र की लकीर डाल दी गई है जिससे ज्ञान पड़े कि वे वस्त्रों से आच्छादित हैं, परन्तु वह लकीर केवल चरणों तक ही सीमित है और उससे निर्दिष्ट वस्त्र का तन के ऊपरी अंगों पर कहीं भी नाम-निशान नहीं, वरंच उनमें नारीत्व के खुले अंगों का पूर्णतया निर्देश भी कर दिया गया है। ये नग्न प्रतिमाएँ अधिकतर वसंत के साधनों से सजी होती हैं—आम्र-मंजरी और मदिरापात्र तथा चषक धारण किए हुए। अधिकतर ये अशोक

[1] स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥१६, १७॥

के नीचे दोहद या अन्य मुद्राओं में खड़ी होती हैं जिनमें से एक विशिष्ट मुद्रा 'शालभंजिका' की है। इनके चरणों के नीचे प्रायः एक नग्न पुरुष-वामन कुचला पड़ा रहता है। उसकी जिह्वा और आँखें कष्ट के कारण बाहर निकली रहती हैं। यक्षिणियाँ जैसा ऊपर कहा जा चुका है वासना की प्रतीक हैं—पुरुष की इंद्रियलोलुप तृष्णा का रौप्य निदर्शन। पुरुष वह वामन है जो अपनी ही वासनाजन्य कामुकता के भार से कुचला जा रहा है और उसकी वासना नारी का रूप धरे (क्योंकि नारी पुरुष की वासनाओं में सर्वोच्च स्थान रखती है) उस पर खड़ी नग्न तांडव कर रही है।

परंतु इस प्रदर्शन का भाव अथवा लाभ क्या है? ये यक्षीमूर्तियाँ उस रेलिंग के स्तंभों पर खुदी हैं जो स्तूप के चतुर्दिक् दौड़ता था। ये स्तूप निर्वाण अथवा बुद्ध या उसके अन्य रूपों या शिष्यों के जीवन अथवा उसमें घटी किसी विशेष घटना को स्मारक हैं! स्तूप व्यावहारिक जगत् के बाहर के आनंद (निर्विकल्प) को प्रतीक है। यह विशेष महत्व की बात है कि ये नग्न यक्षीमूर्तियाँ तो सामने खुदी हैं, परंतु इनके पीछे वाले स्तंभ-भाग पर प्रायः बुद्ध की एक जातक कथा उत्कीर्ण है। ये कथाएँ बुद्ध के उन पूर्व जन्मों से सम्बन्ध रखती हैं जिनमें परोपकार में सतत प्रयत्न करते हुए तथागत ने अपनी बोधि प्राप्त की थी। स्तूप और रेलिंग के भीतर चारों ओर कुछ भूमि छूटी होती है जिसमें श्रद्धालु उपासक चल कर स्तूप की परिक्रमा करते हैं। इसे प्रदक्षिणा-भूमि कहते हैं। प्रदक्षिणा-भूमि में भीतर की ओर स्तूप की तरफ़ संकेत करती-सी जातक कथाएँ हैं जिनमें व्यक्त किए जीवन का अनुकरण कर दुखी नर बुद्धत्व अथवा बोधिसत्त्व और अर्हत अवस्था का लाभ करेगा जिससे स्तूप की सार्थकता होगी। बाहर उन्हीं स्तंभों पर जहाँ से उपासक

भीतर की प्रदक्षिणाभूमि में प्रवेश करता है यक्षीमूर्तियाँ हैं। यही बाहर का पददलित लांछित संसार है, जहाँ पुरुष अपनी ही वासनाओं का दास हो उनके बोझ से दबा जाता है, जहाँ वह उन गगनचुंबी बलवती नारी-यक्षीभावमयी वासनाओं के सम्मुख वामन मात्र है, उनका भार वहन करने में सर्वथा असमर्थ। इसी कारण तथागत बुद्ध संघ में नारी प्रवेश के विरुद्ध थे और इसी कारण जब प्रजापति ने प्रव्रज्या ग्रहण की उन्होंने आनन्द से कहा—"आनन्द, नारीरहित संघ का जीवन हज़ार साल का होता, परन्तु अब वह पाँच सौ वर्षों से अधिक नहीं चल सकेगा।"

इस प्रकार मंदिरों पर मूर्तियों का नग्नचित्र भारत में नवीन नहीं और न उसका उपयोग केवल उड़ीसा की वास्तुकला में ही हुआ है।

सम्भव है इनका अर्थ यह रहा हो कि नग्न वासनादलित संसार बाहर का है और उपासकों पर इसका पूर्णतया आतंक जमाने के लिए ये, वाह्यचित्र उत्कीर्ण किए गए हों। यह बात बराबर ध्यान में रखने की है कि इनमें से सारे चित्र बाहर की ओर हैं, एक भी भीतर मन्दिरों के 'गर्भागार' में नहीं। यह तो हुई सिद्धांत की बात परन्तु एक बार जब यह सिद्धांत नग्न मूर्तियों की भावभंगियों में प्रयुक्त हुआ फिर तो वह तक्षकों के चित्त को अटका-अटका कर चकित और दूषित करने लगा जैसा वह आज भी इन मूर्तियों में प्राण फूँक-फूँक दर्शकों का करता है। और जब वज्रयानियों ने इस प्राचीन सिद्धान्त को स्वार्थवश रूप दे दिया तब इसका प्रसार उड़ीसा के बाहर भी हुआ। इन वज्रयानियों का तांडव सातवीं सदी में ही आरम्भ हो गया था। जहाँ-जहाँ इन कामोन्मादक मूर्तियों का प्रयोग हुआ है वे सभी मन्दिर सातवीं सदी के बाद के हैं।